सस्ता साहित्य मण्डल

सर्वोदय साहित्य माला : अट्ठासीवाँ ग्रन्थ

---

[ गांधी साहित्य माला : पहली पुस्तक ]

[ ८८ ]

# स्वदेशी और ग्रामोद्योग

लेखक

महात्मा गांधी

सस्ता साहित्य मण्डल
दिल्ली : : लखनऊ

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

संस्करण
मार्च १९३९ : २०००
मूल्य
आठ आना

मुद्रक,
एस. एन. भारती,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली।

# प्रकाशक की ओर से

हमें इस बात की खुशी है कि महात्माजी का यह लेख-संग्रह 'गांधी-साहित्य माला' के प्रथम पुष्प के रूप में पाठकों की भेंट कर रहे हैं। यह विषय हमने सबसे पहले इसलिए चुना है कि यह महात्माजी के हृदय के बहुत निकट है। आशा है इससे पाठकों को 'स्वदेशी और ग्रामोद्योग' के बारे में महात्माजी के विचारों को जानने में मदद मिलेगी और 'सच्ची' स्वदेशी और ग्रामोद्योगों के पुनरुद्धार के कार्य में वे महात्माजी की आशाओं को पूर्ण करेंगे।

इसके बाद हम 'अहिसा धर्म' और 'देशी राज्यों में पूर्ण स्वराज्य की लड़ाई' विषयों पर महात्माजी का लेख-संग्रह तैयार करा रहे है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

—मन्त्री

# विषय सूची

# स्वदेशी और ग्रामोद्योग

: १ :

# एक नई व्याख्या

[ पिछले महीनों कई 'स्वदेशी' कार्यकर्त्ता अपने पथप्रदर्शन के लिए 'स्वदेशी' की व्यापक परिभाषा जानने गाँधीजी के पास गये। 'स्वदेशी' की व्यापक परिभाषा बनाने की कोशिश करते हुए और सुदूर दक्षिण में अपने सहयोगियों से चर्चा करते हुए उन्हे ऐसा लगा कि ऐसी परिभाषा बना लेना क़रीब-क़रीब नामुमकिन है। और फिर 'स्वदेशी' स्वयम ही अपनी परिभाषा है। यह तो एक ऐसी भावना है, जिसका रोज़मर्रा विकास होता है, रोज़ जिसमें परिवर्तन होते है। परिभाषा ही बनाने का यत्न किया जायगा तो वह न सिर्फ़ बेकार होगा, बल्कि 'स्वदेशी' की भावना का विकास रुक जायगा, इसलिए उन्होने अखिल भारतीय स्वदेशी संघ ( लीग ) और सहयोगी संस्थाओं के पथप्रदर्शन के लिए जो काम-चलाऊ गुर ढूढ निकाला वह यह है—

"अखिल-भारतीय-स्वदेशी-संघ के लिए तो 'स्वदेशी' में वे सब चीज़ें आ जाती हैं जो भारत में उन छोटे-छोटे धन्धों से मिलती हैं जिन्हें प्रोत्साहन देने के लिए जनता को ज्ञान कराने की आवश्यकता होगी और जो स्वदेशी-संघ के नियंत्रण में रहें, ताकि वह उन चीज़ों का मूल्य निर्धारित करे और उनके अधीन मजूरों की मजूरी और ख़ुशहाली का ख़याल रक्खे। इसलिए 'स्वदेशी' में वे चीज़े नहीं आतीं, जो उन बड़े-बड़े संगठित व्यवसायों या कारख़ानों से मिलें; जिनका अखिल-भारतीय

स्वदेशी-संघ से कोई सम्पर्क या वास्ता नहीं है और जिनको राज की मदद मिलती या मिल सकती है।"

इस सिद्धान्त ने कार्यकर्ताओं को विस्मित कर दिया। नतीजा यह हुआ कि जब जून १९३४ में गांधीजी हरिजन-यात्रा के सिलसिले में बम्बई आये तो वहाँ संघ के सदस्यों ने गाधीजी से चर्चा की। गाँधीजी ने जो-कुछ कहा उसका सार नीचे लिखे अनुसार है—]

**"मैंने स्पष्ट कह दिया है कि मेरा यह सिद्धान्त तो स्वदेशी-संघ के ही पथप्रदर्शन के लिए है। वह 'स्वदेशी' के समस्त क्षेत्र में व्यापक होने का दावा नहीं करता। यह तो संघ को मेरा एक सुझाव-मात्र है कि वह अपने कार्यक्रम को छोटे-छोटे, ख़ासकर घरेलू धन्धों के प्रोत्साहन और प्रचार तक ही सीमित रक्खे और बड़े-बड़े संगठित धन्धों का बहिष्कार करे। इस सुझाव को प्रस्तुत करने का उद्देश्य भी बड़े व्यवसायों की निन्दा करना, या उन फ़ायदों की उपेक्षा करना नहीं है, जो हमें उन बड़े व्यवसायों से हुए हैं या भविष्य में हमारे देश को होंगे। लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि स्वदेशी-संघ-जैसी कोई संस्था उन धन्धों का विज्ञापन करनेवाली स्वयंनियुक्त एजंट बन जाय, जैसाकि वह अबतक रही है। उनके पास पर्याप्त साधन हैं और वे अपनी रक्षा आप करने में समर्थ हैं। लोगों में स्वदेशी की भावना बहुत काफ़ी उदय हो चुकी है और स्वदेशी संस्थाओं के प्रयत्न के बग़ैर भी उन्हें इससे मदद मिलती है। अगर उन्हें उपयोगी बनना है तो उन्हें उन धन्धों और व्यवसायों पर ध्यान देना चाहिए जिनका दम घुटा जा रहा है। बड़े-बड़े संगठित व्यवसायों से प्राप्त वस्तुओं का विज्ञापन करने की कोशिश से उनको क़ीमत बढ़ेगी ही। यह चीज़ बरतने वालों के साथ अन्याय होगा। जो कारोबार बड़ी सफलता के साथ**

चल रहे हैं, उन्हें मदद पहुँचाने की उदार भावना लेकर किसी संस्था की स्थापना करना केवल शक्ति का अपव्यय है। अगर हमारा ऐसा विश्वास हो कि हमारी ही कोशिशों से इन उद्योगों की उत्पत्ति और वृद्धि हुई है, तो यह भ्रम है। यह तो एक थोथा आत्म सन्तोष होगा, जिसका कोई सत्य आधार नहीं है! मुझे याद है कि १६२० ई० में जब मैं स्वदेशी-आन्दोलन आरम्भ करने जा रहा था, फ़ज़ल भाई से मेरी बातचीत हुई थी। उन्होंने अपने ख़ास ढँग से मुझे कहा था—'अगर आप कांग्रेसी-लोग हमारी चीज़ों का विज्ञापन करने लग जावें तो सिवाय इसके कि हमारी चीज़ों पर किश्त लग जायगी और हमारी उत्पादित चीज़ों के दाम चढ़ जायँगे, देश का कोई हित नहीं होगा।' उनकी दलील अकाट्य थी। लेकिन मैंने उनसे कहा कि 'मैं तो हाथ-कती, हाथ-बुनी खादी को बढ़ावा देना चाहता हूँ। मुझे दुःख होता है कि हम इसकी उपेक्षा करते रहे हैं और अगर हमें लाखों-करोड़ों भूखों-बेकारों की ख़िदमत करनी है तो उसका पुनर्जीवन करना ही होगा।' तो वे हक्के-बक्के रह गये।

"लेकिन सिर्फ़ खादी ही ऐसा मृतप्राय उद्योग नहीं है। इसलिए मेरा यह सुझाव है कि आप अपना ध्यान और अमल उन सब छोटे पैमाने पर चलनेवाले असंगठित धन्धों की तरफ़ लगावें, जिन्हें आज जनता के संरक्षण की आवश्यकता है। अगर उनकी रक्षा की कोई कोशिश नहीं हुई तो वे शायद मिट भी जायँ। इनमें से कुछ तो उन बड़े उद्योगों के कारण पछाड़ खाये हुए हैं, जिन्होंने अपनी चीज़ों से बाज़ार पर क़ब्ज़ा जमा रक्खा है। ये धन्धे आप से चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि हमें बचाओ!

"शक्कर-व्यवसाय ही को लीजिए। कपड़े के बाद दूसरा बड़ा

व्यवसाय शक्कर का ही है। इसे हमारी मदद की ज़रूरत नहीं है। शक्कर के कारख़ाने ज़ोरों से बढ़ रहे हैं। लोकप्रिय एजेन्सियों ने इस व्यवसाय की बढ़ती के लिए कुछ भी नहीं किया; हाँ, अनुकूल क़ानून बन जाने से इनकी बढ़ती ज़रूर हुई। और आज तो यह व्यवसाय इतना सम्पन्न और व्यापक होगया है कि गुड़ बनाना गई गुजरी बात होगई। पौष्टिक भोजन की दृष्टि से साफ़ की गई शक्कर से गुड़ कहीं बढ़-चढ़ कर है। यह ऐसा बहुमूल्य घरेलू व्यवसाय है, जो आपकी सहायता चाहता है। इस व्यवसाय में हमें अन्वेषण के लिए क्षेत्र मिलने के साथ-साथ कुछ आर्थिक मदद भी मिलती है। हमें इसे जीवित रखने के उपायों और साधनों का पता लगाना है। मैं जो-कुछ कहना चाहता हूँ, यह उसका उदाहरण-भर है।

"मुझे तो इसमें ज़रा भी शक नहीं है कि अगर हम इन छोटे धन्धों की मदद करें तो हमारे राष्ट्र की सम्पत्ति अवश्य बढ़ जाय। मुझे इस बात में भी क़तई शुबह नहीं है कि इन घरेलू धन्धों को प्रोत्साहन और पुनर्जीवन देना ही वास्तव में 'स्वदेशी' है। केवल इसीसे लाखों मूक प्राणियों को मदद पहुँच सकती है। यह लोगों की रचनात्मक और युक्ति-साधक वृत्ति को मार्ग सुझाती है। एक और फ़ायदा यह है कि इससे देश के सैकड़ों बेरोज़गार नौ-जवानों को रोटी मिल सकती है, जो शक्ति आज व्यर्थ बरबाद हो रही है, वह सब इसमें लग सकती है। मैं नहीं चाहता कि वे लोग, जो दूसरे ज़्यादा आमदनी के व्यवसायों में लगे हैं, उन्हें छोड़-छाड़कर छोटे धन्धों को अपनायें। मैं तो सिर्फ उन लोगों से जो बेकारी और दरिद्रता से पीड़ित हैं, यह कहूँगा कि वे चरखे की तरह एक किसी धन्धे में लगकर, अपने थोड़े-से कमाई के वसीलों को थोड़ा और बढ़ाले।

"इस तरह हम देखेंगे कि मेरे सुझाव के मुताबिक़ कार्यक्रम बदल देने से बड़े व्यवसायों के हितों को किसी तरह का धक्का नहीं पहुँचेगा। मैं तो सिर्फ़ इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप राष्ट्रीय कार्यकर्त्तागण अपने कार्यक्रम को छोटे धन्धों तक ही सीमित रक्खें और बड़े व्यवसायों को जैसे वे करते चले आरहे हैं, अपनी मदद आप करने दें। मेरी धारणा है कि छोटे धन्धे बड़े धन्धों की जगह नहीं ले सकेंगे, बल्कि उनको मदद ही पहुँचावेंगे। मेरी तो अकांक्षा है कि मैं बड़े-बड़े व्यवसायों के स्वामियों तक से कहूँ कि वे इस काम में दिलचस्पी लें, क्योंकि यह शुद्ध मानवहित का कार्य है। मैं तो मिल-मालिकों का भी हितचिंतक हूँ और वे भी इस बात को मानेंगे क्योंकि मैं कह रहा हूँ कि जब मैं उन्हें मदद दे सकता था, मैंने उन्हें मदद दी है।"

जुलाई १९३४।

: २ :

# स्वदेशी

गत वर्ष मेरे उपवास के उपरान्त, 'स्वदेशी' का प्रचार करने वालों की ओर से यह आग्रह किया गया था, कि मैं 'स्वदेशी' की एक ऐसी परिभाषा बना दूँ, जिससे उनके मार्ग में आनेवाली अनेक कठिनाइयाँ दूर हो जायँ। मिल के बने कपड़े में स्वदेशी के जो अनेक पहलू हैं, उन सबका ध्यान मुझे रखना था। कई परिभाषायें, जो मुझे सुझाई गईं उन सबको मैंने मिलाया। श्री शिवराव और श्री जालभाई नौरोजी तथा अन्य सज्जनों के साथ मैंने लिखा-पढ़ी भी की। मैं कोई ऐसी परिभाषा न बना सका, जो सभी प्रसंगों पर काम दे सके। मुझे मालूम हुआ, कि व्यापक व्याख्या का बनाना तो असम्भव है। बाद को मेरे देश-व्यापी प्रवास में मुझे अनेक अनुभव हुए, और संस्थाओं का काम किस तरह चल रहा है, यह देखने के भी मुझे अनेक अवसर प्राप्त हुए। इस सबसे मैं इस नतीजे पर पहुँचा, कि 'स्वदेशी' का काम जिस तरह आज चल रहा है, वह तो एक प्रकार का धोखा है—पर यह बात नहीं, कि जान-बूझ कर कोई आँखों में धूल झोंक रहा है। यह भी मैंने देखा, कि हमारे बहुत-से कार्यकर्ताओं की शक्ति इसमें व्यर्थ ही नष्ट हो रही है और अपने आपको वे खुद ठग भी रहे हैं। मैं यहाँ जो ऐसी सख्त भाषा का प्रयोग कर रहा हूँ, उससे यह न समझ लिया जाय, कि स्वदेशी के प्रचार का काम करनेवाले बेईमान हैं; स्वदेशी के सम्बन्ध के केवल

मेरे मनोगत विचार ही इन कड़े शब्दों में प्रकट हो रहे हैं। वे बेचारे तो काम करते चले जा रहे थे, उन्हें यह थोड़े ही मालूम था, कि इस काम में किसी तरह की कोई धोखा-धड़ी या आत्म-प्रवंचना है।

मैं अपने अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करूँगा। जिन चीज़ों के प्रचार के लिए ख़ास सहायता करने की ज़रूरत नहीं, उन्हीं चीज़ों की प्रदर्शिनी हम करते-फिरते हैं। इसका यह परिणाम होता है, कि उन चीज़ों की या तो क़ीमत बढ़ जाती है, या एक-दूसरे के साथ स्पर्धा करनेवाली उन्नतिशील कोठियों में अवांछनीय रस्साकशी होने लगती है।

कपड़े की, शक्कर की और चावल की मिलों को हमारी मदद की दरकार नहीं है। किन्तु यदि हम अनमाँगी मदद इन मिलों को देते रहेंगे, तो चरखा, करघा, खादी, ऊख पेरने का कोल्हू, और जीवन-प्रद तथा पोषक तत्त्वों से भरा हुआ गुड़ और इसी तरह ओखली-मूसल का कुटा चावल—गाँव की इन सब चीज़ों—का हम नाश कर देंगे। इसलिए हमारा यह स्पष्ट कर्त्तव्य है, कि गाँव के चरखे को, गाँव के कोल्हू को और गाँव की ओखली को किस रीति से ज़िन्दा रखा जा सकता है, इसकी हमें बराबर खोज करते रहना चाहिए। चरखे, कोल्हू और ओखली के ही माल का प्रचार किया जाय। उनके गुणों को बतलाया जाय। उनमें काम करनेवाले लोगों की स्थिति की जाँच-पड़ताल की जाय और कल-कारखानों के बेकार बैठे हुए कारीगरों की गणना करके ग्राम के इन साधनों में—उनके ग्राम्यरूप में ही—सुधार करने के तरीक़े ढूँढ़कर मिलों की प्रतिस्पर्धा का मुका-बिला करने में उन बेकार कारीगरों को मदद पहुँचाई जाय। गाँव के इन उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में हमने कितनी भयंकर और अक्षम्य

उपेक्षा दिखाई है। इन उद्योगों को ज़िन्दा रखने के प्रयास में कपड़े या शक्कर या चावल की मिलों के साथ कोई झगड़ा नहीं है। विदेशी कपड़ा विदेशी शक्कर या विदेशी चावल की अपेक्षा तो अपने देश की मिलों में ही बना हुआ कपड़ा, शक्कर या चावल हमें काम में लाना चाहिए। अगर विदेशी स्पर्धा के मुक़ाबिले में खड़े रहने की उनमें शक्ति न हो, तो उन्हें पूरी मदद भी मिलनी चाहिए। पर आज तो ऐसी किसी मदद की ज़रूरत देशी मिलों के माल को है नहीं। विदेशी माल से देशी मिलों का माल बराबर टक्कर ले रहा है। आवश्यकता तो आज-ग्रामीण उद्योगों को है। बचे-खुचे ग्राम-उद्योगों में लगे हुए लोगों की हमें रक्षा करनी है, और विदेशी या स्वदेशी मिलों के आक्रमण से उन बेचारों को बचाना है। सम्भव है कि खादी, गुड़ और ओखली का कुटा चावल मिल के माल से घटिया हों, और इसीसे वे इसके मुक़ाबिले में न टिक सकते हों। पर असल बात तो यह है, कि खादी के उद्योग के बारे में जितनी खोज-बीन हुई है, उतनी गुड़ और हथ-कुटे चावल के धन्धे में लगे हुए हज़ारों आदमियों की स्थिति के सम्बन्ध में नहीं हुई। इस काम में तो देश-भक्तों की एक भारी सेना खप सकती है। पाठक कहेंगे—'पर यह तो बड़ा कठिन काम है।' किन्तु यह काम जितने महत्त्व का है, उतना ही रसमय है। मेरा तो यह दावा है, कि यही काम सच्चा, सफल और सौ-फ़ीसदी 'स्वदेशी' है।

पर यह तो मेरी भूमिका मात्र है। मैंने तो ऊपर सिर्फ़ तीन ही बड़े-बड़े उद्योगों का उदाहरण देकर बताया है, कि स्वदेशी का प्रचार करनेवाले इन्हीं ग्रामीण उद्योगों के ऊपर अपना सारा ध्यान एकाग्र करें और इनको ज्ञानपूर्वक संगठित सहायता करके इन्हें अब भी मृत्यु-मुख से बचालें।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे ग्रामीण और नागरिक उद्योग-धन्धे हैं, जिन्हें जीवित रखने के लिए सार्वजनिक सहायता की आवश्यकता है; कारण कि इन उद्योगों की बदौलत हज़ारों ग़रीब कारीगरों को रोटी मिल रही है। इस सम्बन्ध में जितना भी काम किया जाय, थोड़ा है। यह समझ लेना चाहिए कि इस काम में जितना समय हम देंगे, वह योग्य कारीगरों के जीवित बनाये रखने में ख़र्च होगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अगर यह काम एक सलीक़े से किया जाय, तो इसे चलाने के लिए पैसा तो इसीमें से निकल आयगा, स्वदेशी के इस खाते को दूसरों का मुँह न ताकना पड़ेगा। अनेक शिक्षित और अशिक्षित लोगों की शक्ति के उपयोग को उत्तेजन मिलेगा, बेकार आदमियों को, बिना दूसरों के मुँह का कौर छीने, अनायास काम मिल जायगा और हमारे देश की सम्पत्ति में, जो नित्य-प्रति अधिकाधिक दरिद्र होता चला जा रहा है, करोड़ों को वृद्धि हो जायगी।

इसमें सन्देह नहीं, कि इस काम में लाभ काफ़ी है, और मन भी इसमें खूब लगेगा। हमारे यहाँ आज जितने भी स्वदेशी-संघ काम कर रहे हैं, वे सब-के-सब इस काम में लगा दिये जायँ, तो भी पूरा न पड़ेगा। हमारे सामने काम बहुत ज्यादा पड़ा हुआ है। मैंने ऊपर जो लिखा है, वह सब, और उससे भी अधिक कांग्रेस की कार्य-समिति के 'स्वदेशी' सम्बन्धी हाल के प्रस्ताव में आ जाता है। हमारे मुल्क में कितने ही उद्योग-धन्धे चलाने की शक्ति, जो योंही बेकार पड़ी है, उसका भी इसमें पूरा-पूरा उपयोग हो सकता है।

हरिजन सेवक १७-८-३४।

: ३ :

## स्वदेशी के बारे में कुछ और

१० अगस्त के 'हरिजन' में प्रकट किये गये अपने विचारों का सूत्र मैं फिर चलाना चाहता हूं। हरिजनों के ख़ास-ख़ास धन्धों को ही लीजिए। हरिजनों में जो दो हज़ार से भी ऊपर जातियाँ होगई हैं, इसके पीछे भी एक कारण है। इनमें से अधिकांश तो उनके धन्धों को ही बतलाती हैं, जैसे टोकरी बुनना, झाड़ू बनाना, रस्सी बंटना, दरी बुनना आदि। अगर इन सबकी मुकम्मिल सूची तैयार करें तो काफ़ी बड़ी सूची बनेगी। इन धन्धों को या तो प्रोत्साहन मिलना चाहिए या फिर अगर वे बेकार और व्यर्थ हैं तो उनको जान-बूझ कर मटियामेट कर देना चाहिए। लेकिन वे लाभदायक हैं कि नहीं; उपयोगी हैं कि नहीं इसका निर्णय कौन करे ? अगर कोई सचमुच ही स्वदेशी संस्था हो, तो उसका कर्तव्य है कि इन तमाम अनगिनती दस्तकारियों के बारे में सचाई की खोज करे और इन दस्तकारों में दिलचस्पी लें। मैं जिस स्याही से लिख रहा हूँ, वह तेनाली की बनी है। इससे क़रीब १२ मजदूर पलते हैं। वह विषम परिस्थितियों का मुक़ाबिला करती हुई चल रही है। मेरे पास तीन भिन्न-भिन्न स्याही बनानेवालों की भेजी नमूने की स्याहियाँ थीं। वे सब तेनालीवालों की ही तरह संकटापन्न स्थिति में हैं। मुझे उनमें दिलचस्पी पैदा हुई और मैंने उनसे पत्र व्यवहार शुरू किया। लेकिन मैं उनके लिए और कुछ कर नहीं सका। कोई स्वदेशी संस्था होती तो इस

नमूने की स्याहियों की वैज्ञानिक ढँग से परीक्षा करती, उन्हें पथ-प्रदशन करती और जो अच्छी होती, उसे प्रोत्साहन देती। स्याही का व्यवसाय अच्छा और उन्नतिशील व्यवसाय है। उसमें रसायन-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता है।

कानपुर से एक भाई ने मेरे पास कागजों के कुछ नमूने भेजे जो उनके एक मित्र पास के एक गाँव में तैयार करते थे। मैंने उस कारोबार की बाबत पूछताछ की। उससे नौ की रोज़ी चलती है। कागज़ मज़बूत और चिकना था। मगर लिखने के लिए जैसा चाहिए वैसा नहीं था। उस धन्धे में लगे मजूर अपनी रोज़ी कमा-भर लेते हैं। उस काम में चतुराई एक कब्र में पैर लटकाये हुए बूढ़े आदमी की लगती थी। अगर उस व्यवसाय को ठीक-ठीक पथ-प्रदर्शन नहीं मिल पाया तो वह उसकी मृत्यु के साथ ही मिट जाने-वाला है। मुझसे यह कहा गया कि अगर उन लोगों के पास काफ़ी आर्डर आवें तो वे कागज़ उसी क़ीमत पर दे सकते हैं जिसपर मिल का बना कागज़ मिलता है। मैं यह जानता हूँ कि हाथ का बना कागज़ रोज़मर्रा की बढ़ती हुई माँग को कभी पूरा नहीं कर सकता, लेकिन ७,००,००० गाँवों और उनकी दस्तकारियों के प्रेमी हमेशा ही हाथ का कागज़ बरतेंगे। हाँ, अगर वह आसानी से मिल सके। जो लोग हाथ का कागज़ बरतते हैं, जानते हैं कि उसमें अपनी एक खूबी और ख़ासियत रहती है। अहमदाबाद के मशहूर कागज़ को कौन नहीं जानता? चलने में और चमक में मिल का कागज़ उसकी क्या बरा-बरी करेगा?

पुराने ढँग की खाते-बहियाँ अब भी उसी कागज़ की बनती हैं, लेकिन यह धन्धा भी दूसरे ऐसे ही धन्धों की तरह गिर रहा है।

थोड़ा-सा ही प्रोत्साहन इसे मिल जाय तो यह कभी मिटे नहीं। अगर इस व्यवसाय पर देखरेख और निगरानी हो तो काग़ज़ बनाने की क्रिया में सुधार होसके और जो-कुछ खामियाँ ऐसे हाथ के काग़ज़ में नज़र आया करतीं हैं, वे आसानी से दूर की जा सकें। इन अज्ञात व्यवसायों में लगे अनगिनती लोगों की आर्थिक स्थिति की ठीक-ठीक जाँच होना ज़रूरी है। वे तो खुशी से पथ-प्रदर्शन करने और वाजिब सलाह लेने के लिए तैयार हो जायँगे और जो उनके काम में दिलचस्पी लेंगे उनके कृतज्ञ भी होंगे।

मेरी समझ में मैंने इस बात के काफ़ी दृष्टान्त दे दिये हैं कि वास्तविक स्वदेशी का यह क्षेत्र सर्वोत्तम होते हुए भी कितना अछूता है। उसका अभी अमर्यादित विस्तार किया जा सकता है और उससे बिना किसी ख़र्चवाली पूँजी के देश में बड़ी सम्पत्ति आ सकती है और जो लोग आज उसके अभाव में भूखों मर रहे हैं उन्हें आदर के साथ रोज़ी मिल सकती है।

१४-९-३४।

: ४ :

# स्वदेशी : पुराना और नया

[ गांधीजी के स्वदेशी-विषयक लेख पढ़कर अनेक लोगों ने इस विषय पर स्वतन्त्र रीति से विचार किया है, और जबतक गांधीजी के मन का स्वदेशी-संघ स्थापित नहीं हो जाता, तबतक यह विचार-विनिमय जारी रहना ही चाहिए। इधर अनेक सज्जनों ने गांधीजी से मिलकर इस विषय पर बहस की है। गाँधीजी की स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाय, इसी दृष्टि से उस बातचीत का साराश मैं नीचे देता हूँ —म० ह० दे० ]

**प्रश्न**—यह नया स्वदेशी पुराने स्वदेशी से किस प्रकार भिन्न है ?

**उत्तर**—पुराने स्वदेशी में इसी बात पर ज़ोर दिया जाता था, कि माल इसी देश का बना हुआ है। इस सब पर विचार नहीं किया जाता था, कि वह माल किस तरह तैयार हुआ है, किसने बनाया है, अथवा उसके खपने की कितनी सम्भावना है। अच्छे पाये पर खड़े हुए संगठित उद्योगों को मैंने जो रद्द कर दिया है उसका यह कारण नहीं, कि वे उद्योग स्वदेशी नहीं हैं, पर इसलिए, कि उन्हें अब खास सहायता की ज़रूरत नहीं है। वे अपने पैरों पर खड़े रह सकते हैं, और वर्त्तमान जागृति की अवस्था में उस स्वदेशी माल की सहज ही खपत हो सकती है। स्वदेशी को यदि नव-विधान देना है, तो उस नये स्वरूप के अनुसार मैं अपने स्वदेशी-संघ के द्वारा इतना अवश्य कराऊँगा, कि वह तमाम ग्राम-उद्योगों का पता लगावे और इस बात की भी जाँच-पड़ताल करे, कि आज उनकी क्या दशा है। हम ऐसे

कुशल कारीगर और रासायनिक विद्वानों को रखेंगे, जो अपने ज्ञान का लाभ गाँवों की जनता को देने को तैयार हों। इन कुशल वैज्ञानिकों के द्वारा हम गाँवों के कारीगरों की बनाई हुई चीज़ों की परीक्षा करायेंगे, उनमें क्या-क्या सुधार हो सकते हैं, यह सब उन्हें बतलायेंगे और उन्होंने अगर हमारी शर्त्तें स्वीकार करलीं, तो उनकी बनाई चीज़ों को हम बेच भी देंगे।

प्र०—आप एक-एक करके क्या हर ग्राम-उद्योग को हाथ में लेना चाहते हैं?

उ०—ऐसी तो कोई बात नहीं है। मैं तो एक-एक धन्धे का पता लगाऊँगा, और यह देखूँगा, कि ग्राम-जीवन में उनका क्या स्थान है। अगर मुझे यह मालूम पड़ा, कि उन उद्योगों में उत्तेजन देने लायक़ गुण हैं, तो उन्हें उत्तेजन दूँगा। उदाहरण के लिए, इस झाड़ू को ही ले लीजिए। गृहस्थी की पुरानी झाड़ू को फेंककर उसकी जगह पर आधुनिक झाड़ू या ब्रश को घर में लाना मैं कभी पसन्द न करूँगा। मैं तो कस्तूरबाई और घर की दूसरी बहनों से पूछूँगा, कि दोनों प्रकार की झाड़ुओं के क्या-क्या गुण हैं। सभी दृष्टियों से मैं लाभ को देखूँगा। इस प्रकार देखते हुए मेरा विश्वास है कि गाँव की पुरानी झाड़ू को ही पसन्द करना चाहिए, क्योंकि इसके उपयोग में मुझे सूक्ष्म जीव-जन्तुओं के प्रति कोमलता और दया-भाव दिखाई देता है। ब्रश में यह बात कहाँ है? वह तो सूक्ष्म जीव-जन्तुओं का जैसे संहार कर डालता है। इस तरह झाड़ू के अन्दर मैं समस्त जीवन की फिलासफ़ी देखता हूँ, क्योंकि मैं यह नहीं मानता, कि सिरजनहार सूक्ष्म जीव-जन्तुओं और (अपनी दृष्टि में) सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनुष्यों के बीच कोई भेद-भाव रखता है। इस तरह मैं गाँवों के उन सभी

प्रकार के उद्योग-धन्धों को अलग छाँट लूँगा, जो लोप हो जानेवाले हैं, किन्तु उपयोगी होने के कारण जो उत्तेजन मिलने के पात्र हैं। इसी रीति से मेरा अनुसन्धान कार्य चलेगा। उदाहरण के लिए नगण्य दतौन को ही ले लीजिए। मुझे पूरा भरोसा है कि बम्बई के लाखों नागरिक अगर दतौन करना छोड़ दें, तो ज़रूर उनके दाँतों को नुक़सान पहुँचेगा। दतौन के बदले जो यह टूथ-ब्रश का उपयोग किया जा रहा है, इसकी कल्पना ही मेरे लिए असह्य है। यह ब्रश अस्वच्छ होता है। एक बार दाँतों पर फेरने के बाद उसे फेंक देना चाहिए। उसे साफ़ करने के लिए चाहे जितनी कीटाणुनाशक दवाइयाँ काम में लाई जायँ, तो भी ताज़े ब्रश की तरह तो साफ़ वह हो ही नहीं सकता। उससे हमारी बबूल या नीम की दतौन कहीं अच्छी कि उससे एक बार दाँत साफ़ किये और फेंक दिया। दतौन में दाँत के मसूढ़ों को मज़बूत बनाने का बहुत बड़ा गुण है। फिर दतौन की फाँक जीभ साफ़ करने का भी काम देती है। हमारे यहाँ की दतौन-जैसी किसी स्वच्छ वस्तु का तो पश्चिमवालों ने अभी तक अनुसन्धान ही नहीं किया है। आप लोगों को शायद मालूम न होगा, कि दक्षिण अफ़रीका के एक डाक्टर का यह दावा था कि बाँटू जाति के खान-खोदकों में दतौन का आग्रहपूर्वक उपयोग कराके उन्होंने उन लोगों में फैलते हुए क्षय रोग को रोक दिया था। टूथ-ब्रश हिन्दुस्तान का बना हुआ हो, तो भी मैं उसका प्रचार न होने दूँगा। दतौन के प्रति मेरा जो पक्षपात है, मैं तो उसीका प्रचार करूँगा। यह सौ फ़ी सदी स्वदेशी है। इसकी यदि मैं खबर रखूँगा, तो बाक़ी चीज़ें तो अपनी सार-संभार स्वयं ही कर लेंगी। मुझसे अगर आप समकोण की परिभाषा पूछें तो मैं उसे सहज ही बतला सकता हूँ। पर

१ और १८० अंश के बीच के कोण को यदि आप बना सकें, तो उसकी परिभाषा आप मुझसे न करावें। अगर मुझे समकोण की परिभाषा आती होगी, तो मैं चाहे जैसे कोण बना सकूँगा। स्वदेशी शब्द में ही उसकी विस्तृत व्याख्या आजाती है। तो भी मैंने अपने स्वदेशी को 'सौ फ़ी सदी स्वदेशी' कहा है क्योंकि मुझे आज स्वदेशी में दूसरी चीज़ों के घोटाला होजाने का भय है। सौ फ़ी सदी स्वदेशी में सेवा करने की अनन्त इच्छा रखनेवालों के लिए भी काफ़ी क्षेत्र पड़ा हुआ है, और इसमें हर तरह की बुद्धि का उपयोग हो सकता है।

प्र०—इस स्वदेशी के अन्त में आप 'स्वराज्य' देखते हैं?

उत्तर—क्यों नहीं? एक बार मैंने कहा था कि चर्खे में स्वराज्य है। फिर कहा कि मद्य-निषेध में स्वराज्य है। इसी तरह मैं यह भी कहता हूँ कि सौ फ़ी सदी स्वदेशी में स्वराज्य समाया हुआ है। यह बात उन अन्धों के 'गज-दर्शन' के ही समान है। उन सभी अन्धों का कथन सत्य था, तो भी सम्पूर्ण सत्य नहीं था।

अगर हम अपनी सारी साधन-सामग्री को खपा सकें, तो मुझे पूरा विश्वास है, कि हमारा भारतवर्ष पहले जैसा था एक बार फिर संसार में वैसा ही समृद्ध-से-समृद्ध देश बन जाय। अगर हम आलस्य को तिलांजलि देकर करोड़ों देश भाइयों के अवकाश के समय का सदुपयोग करा सकें, तो अपने अतीत के उस वैभव को एक बार फिर हम लौटा ला सकते हैं। पर यह तभी हो सकता है, जब हम मशीन की तरह नहीं, बल्कि मधुमक्खियों की तरह उद्यमी बन जायँ। आपको मालूम है, कि आजकल मैं 'निर्दोष' मधु का प्रचार कर रहा हूँ।

प्र०—यह 'निर्दोष' मधु क्या चीज़ है?

उत्तर—वैज्ञानिक ढँग से मधु-मक्खियाँ पालनेवाले वैज्ञानिक रीति से जो शहद निकालते हैं वह। ये लोग मधु-मक्खियाँ पालते हैं और फिर बिना उन्हें मारे हुए उनका मधु इकट्ठा कर लेते हैं। इसी-लिए मैं उसे निर्दोष या हिंसा-हीन मधु कहता हूँ। बढ़ाया जाय तो यह धन्धा काफ़ी बढ़ सकता है।

प्र०—पर क्या आप उस शहद को पूर्णतया हिंसा-हीन कह सकते हैं? जैसे बछड़े का दूध हम छीन लेते हैं, उसी तरह मधु-मक्खियों को क्या हम उनके मधु से वंचित नहीं कर देते?

उ०—ठीक है। पर दुनिया का काम इस तरह के कोरे तर्क से ही नहीं चला करता। हम जीते हैं, इसीमें कितनी हिंसा है। हमें तो वही मार्ग ग्रहण करना है, जिसपर चलने से कम-से-कम हिंसा होती हो। यों तो अनाज के खाने में भी हिंसा है—है या नहीं? इसी तरह यदि मुझे मधु की ज़रूरत ही है, तो मुझे मधु-मक्खियों के साथ मैत्री-भाव रखना होगा, और जितना वे मधु दे सकें, उतना ही हमें उनसे लेना चाहिए। फिर वैज्ञानिक रीति से जो मधुमक्खी पाली जाती है, उसमें उसका सारा मधु थोड़ा ही कोई निचोड़ लेता है।

ह० से० ५-१०-३४

: ५ :

# इसका आशय ?

उस दिन मेरे एक आदरणीय मित्र ने अन्य बातों के साथ-साथ यह भी लिखा था, कि 'ग्राम-उद्योग कार्य से आपका जो मतलब है, उसका सम्पूर्ण चित्र मेरी दृष्टि के सामने नहीं आ रहा है।' प्रश्न यह अच्छा है। अवश्य ऐसी शंका बहुतों के मन में उठ रही होगी। मैंने उन्हें उत्तर में जो लिखा, उसका सारांश यह है—

"संक्षेप में पूछा जाय तो मैं इतना ही कहूँगा कि हमें अपने नित्य के उपयोग की चीज़ें सिर्फ़ वही ख़रीदनी चाहिए, जो कि गाँवों में बनती हों। हो सकता है कि गाँव की बनी चीज़ें अभी भद्दी या बेडौल हों। तब हमें चाहिए कि गाँवों की कारीगरी को उत्तेजन देने का हम प्रयत्न करें, न कि इस दलील को सामने रखकर उन चीज़ों को लेने से इन्कार करदें कि विदेशी अथवा बड़े-बड़े कल-कारख़ानों की बनी स्वदेशी चीज़ें उनसे कहीं बढ़िया हैं। असल बात यह है कि ग्रामवासी की सोई हुई कारीगरी या कलापूर्ण प्रतिभा को हमें जागृत कर देना चाहिए। सिर्फ़ इसी एक तरीक़े से हम उस भारी ऋण को थोड़ा-बहुत चुका सकेंगे, जो कि गाँववालों का हमारे ऊपर चढ़ा हुआ है। इस विचार से भयभीत होने का कोई कारण नहीं कि ऐसे प्रयत्न में क्या हम कभी कामयाब हो सकेंगे। हमें अपने ही युग की ऐसी कई मिसालें याद आ सकती हैं, कि जब हमें यह ज्ञान होगया कि अमुक काम देश की तरक्क़ी के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं तो हमारे

मार्ग में आनेवाली कठिनाइयाँ हमें ज़रा भी विचलित नहीं कर सकीं और उन कामों में हम असफल भी नहीं हुए। इसलिए हममें से अगर हरेक इसपर विश्वास करने लग जाय कि हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए भारतीय ग्रामों का पुनर्संगठन अत्यन्त आवश्यक है, और अगर हमारा इसमें जीवित विश्वास हो कि ग्रामों के पुनरुज्जीवन के द्वारा ही हम इस व्यापक अस्पृश्यता को निर्मूल करके अपने अन्दर सम्प्रदाय या धर्म का भेद-भाव छोड़कर आत्मैक्य का अनुभव कर सकते हैं, तो हमें सच्चे हृदय से गाँवों की ओर जाना ही होगा, और बजाय इसके कि हम ग्राम-वासियों के सामने उन्हें लुभाने के लिए शहर के कृत्रिम जीवन को रखें, हमें खुद गाँव की बनी चीज़ों को नमूने के रूप में अपनाना होगा। अगर यह विचार-दृष्टि ठीक है, तो हमें खुद-ब-खुद आगे बढ़कर गाँव की बनी चीज़ों को व्यवहार में लाना चाहिए—जैसे, जहाँ सम्भव हो फाउण्टेनपेन या होल्डर के बजाय हम गाँव की बरू की क़लम को और बड़े-बड़े कारख़ानों की बनी स्याही की जगह गाँव की बनी स्याही को काम में लावें। मैं ऐसे और भी अनेक उदाहरण दे सकता हूँ। नित्य के उपयोग की शायद ही कोई ऐसी चीज़ हो, जो आज से पहले गाँववालों ने न बनाई हो, और जिसे वे आज न बना सकते हों। अगर हम इस तरफ़ पूरी तरह से अपना मन लगा दें और गाँवों पर अपना ध्यान एकाग्र करलें तो हम बात-की-बात में लाखों रुपये गाँववालों की जेब में पहुँचा सकते हैं। आज तो हम उन्हें बिना कुछ मुआवज़ा दिये उलटे उन ग़रीबों को लूट-खसोट रहे हैं। इस भयंकर सर्वनाश को आगे बढ़ने से हम अभी रोक सकते हैं। जो लोग आज अस्पृश्य माने जाते हैं, उनकी प्रथानुमोदित अस्पृश्यता दूर करने की अपेक्षा अस्पृश्यता-

निवारण का यह आन्दोलन मेरे लिए अधिक व्यापक मानी रखने लगा है। शहरवालों की दृष्टि में गाँव अस्पृश्य होगये हैं। शहरवाला उन्हें जानता नहीं, पहचानता नहीं। न वह गाँवों में जाकर रहना चाहता है; अगर वह किसी गाँव में जा पहुँचता है, तो वह वहाँ भी अपना वही नागरिक जीवन जमाना चाहता है। यह तो तभी सह्य हो सकता है, जबकि हम अपने मुल्क में इतने शहर बना सकें कि उनमें ३० करोड़ मनुष्य समा जायँ। ग्राम-उद्योगों का पुनरुज्जीवन और बलात्कार की बेकारी तथा दूसरे कारणों से उत्पन्न देश की दिन-दिन बढ़ती हुई दरिद्रता का दूरीकरण अगर असम्भव है तो भारत के गाँवों को शहरों में परिणत कर देने की कल्पना तो और भी अधिक असम्भव है।

ह० से० ३०-११-३४

: ६ :

# ग्राम-उद्योग-संघ

[ "चूँकि स्वदेशी के कार्य को आगे बढ़ाने का दावा करनेवाले अनेक मंडल सारे देश में, काँग्रेसजनों की सहायता से और बिना सहायता के भी, खुल गये हैं और चूँकि इससे स्वदेशी के सच्चे स्वरूप के सम्बन्ध में जनता के मन में भारी भ्रम उत्पन्न होगया है; चूँकि काँग्रेस का ध्येय उसके जन्म-काल से ही जन-साधारण के साथ आत्मीयता बढ़ाते रहने का रहा है, और चूँकि ग्राम-संगठन काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग है, और चूँकि गाँवों के इस नये संगठन में चर्खे के मुख्य उद्योग के बाद मरे हुए या मरते हुए ग्राम-उद्योगों को पुनर्जीवित करने और उन्हें प्रोत्सान देने का समावेश होजाता है, और चर्खा-संघ के विधान की तरह, काँग्रेस की राजनैकि प्रवृत्तियों से अलिप्त तथा स्वतंत्र रहकर तन्मयता और विशेष प्रयत्न-पूर्वक ही यह काम हो सकता है, इसलिए इस प्रस्ताव के द्वारा श्री कुमारप्पा को, गाँधीजी के परामर्शानुसार और देख-रेख के अधीन, काँग्रेस की प्रवृत्ति के एक अंश के रूप में, 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ' नामक संस्था स्थापित करने का अधिकार दिया जाता है। यह संघ घरेलू उद्योगों के पुनरुद्धार तथा प्रोत्साहन और गाँव की नैतिक तथा शारीरिक उन्नति के लिए प्रयास करेगा; और उसे अपना विधान बनाने, धन-संग्रह करने तथा अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए तमाम आवश्यक काम करने का अधिकार रहेगा।"

गत २४ अक्तूबर को बम्बई मे कॉंग्रेस की विषय-निर्धारिणी समिति के आगे 'ग्राम-उद्योग-संघ' का उपरोक्त प्रस्ताव पेश करते हुए गाँधीजी ने जो भाषण किया था, उसका मुख्य भाग नीचे दिया जाता है—]

## गाँवों की दरिद्रता

इस साल जब मैं हरिजन-दौरा कर रहा था तब लोग मेरे पास आकर अपनी मुसीबतों को सुनाते थे। इस यात्रा में मैंने जितना भ्रमण किया उतना कभी नहीं किया। और उड़ीसा की पैदल-यात्रा में तो मुझे असाधारण अनुभव प्राप्त हुए। हमारे सात लाख गाँवों में कुछ पार है बेकारी का! लोग खेती-पाती से किसी तरह अपनी जीविका चला रहे हैं। पर लाखों लोगों को खेती में नुक़सान पहुँचता है। और आज की मुसीबत का तो कुछ लेखा ही नहीं। आज तो किसान जितना बोते हैं, उतना भी पैदा नहीं होता। इतनी दरिद्रता गाँवों में पहले कभी न हुई होगी। जो लाखों-करोड़ों का सोना देश से निकल गया है उसके राजनैतिक कारण तो हैं ही, पर एक कारण लोगों की यह लाचारी भी है। इस बेकारी से ही चर्खे की उत्पत्ति हुई है। हिन्दुस्तान को छोड़कर दूसरा कौन ऐसा देश है कि जहाँ लोग केवल खेती पर ही गुजर-बसर करते हों? मधुसूदनदास ने कहा था, कि खेती के साथ-साथ गाँववालों के लिए कोई-न-कोई ऊपरी धन्धा तो होना ही चाहिए। जर्मनी जाकर वे चमड़े का काम सीख आये थे। उनका एक वाक्य मुझे आज भी याद है, कि हमेशा बैल के साथ काम करनेवाले की अक़्ल भी बैल की जैसी ही होजाती है। हमारे किसान भाई आज काम-धन्धे से हाथ धो बैठे हैं, और उनमें एक प्रकार की जड़ता-सी आगई है।

# बेकारी का इलाज

साम्यवादियों का एक अख़बार एक सज्जन मेरे हाथ में दे गये थे। उसमें एक बड़ा सुन्दर लेख है। उसमें लिखा है, कि हिन्दुस्तान के लोग मानों पशु हो रहे हैं। आज से दस ही बरस पहले देश में अनेक उद्योग-धन्धे देखने में आते थे, पर आज उन सबका जैसे लोप हो गया है। अब तो सिर्फ़ खेती पर ही लोग निर्वाह कर रहे हैं, और इससे बेकारी अनेक गुनी बढ़ गई है। मैंने तो उस लेख में से यही सार निकाला, कि इस बेकारी का आख़िर इलाज क्या हो सकता है? इसपर विचार करते समय स्वदेशी का शुद्ध स्वरूप मेरे आगे आया। अकेली खादी में ही २,२०,००० कातनेवाली स्त्रियाँ काम में लगी हुई हैं। इस साल में क़रीब ७५ लाख रुपये हमने इन्हें दिये हैं। इस काम की देख-रेख रखनेवाले मध्यम-वर्ग के ११०० आदमियों की जीविका खादी से चल रही है। इन लोगों के द्वारा यह पौन करोड़ रुपया गाँवों में पहुँचा है। खादी का यह काम आज पाँच-छै हज़ार गाँवों में चल रहा है। और २० लाख रुपये से अधिक मूलधन इसमें नहीं लगा हुआ है।

पर इतने से हिन्दुस्तान की सारी बेकारी थोड़े ही दूर हो जाती है। बढ़ई की ही बात लेता हूँ। अपने यहाँ का बढ़ई किसी समय बड़ा अच्छा कारीगर था। आज वह सब कारीगरी भूल गया है। आज तो गाँव का बढ़ई चर्खा तक नहीं बना सकता। बिहार की ही बात लीजिए। भूकम्प ने वहाँ खेतों का नाश कर दिया है। बालू-ही-बालू जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ती है और खेती करना असम्भव-सा होगया है। वहाँ यह निश्चय किया गया, कि जो लोग भूखों मर रहे हैं, उन्हें

हर रोज़ भीख देना तो ठीक है नहीं, इससे और नहीं तो चर्खा चलवाकर ही उनकी बेकारी दूर करने का कुछ प्रयत्न किया जाय। पर प्रश्न यह था कि इतने चर्खे लावें कहाँ से ? अच्छा हुआ कि वहाँ के बढ़ई चर्खे बना तो सकते थे।

अपने देश में शहरों की तो तीन ही करोड़ को आबादी है। बाक़ी के ३२ करोड़ आदमी दस हज़ार से कम जन-संख्यावाले गाँवों में रहते हैं। उनका हमने कभी ख़याल ही नहीं किया। वे क्या तो खाते हैं, क्या पीते हैं, क्या धन्धा करते हैं इन बातों का कभी विचार तक न करते हुए हम उन बेचारों के कन्धों पर सवारी किये हुए हैं। इन लोगों के लिए आपसे चर्खा चलाने को कहता हूँ तो आपको मेरी यह बात पुसाती नहीं। चर्खा-संघ इन लोगों को चर्खा पकड़ा तो रहा है, पर जो काम बाक़ी रहता है, उसे यह नया संघ पूरा करेगा। चर्खे के अतिरिक्त बाक़ी के जिन उद्योगों को लोग घर बैठे ही कर सकते हैं, उन सबका पता यह संघ लगायेगा। जिन उद्योगों का पुनरुद्धार हो सकता है, उनका पुनरुद्धार करेगा; जो चीज़ें तैयार होती होंगी उन्हें और भी अच्छी तरह तैयार कराने की योजना यह संघ बनायगा; और नई-नई और क्या-क्या चीज़ें बन सकती हैं, इसका भी वह पूरा-पूरा पता लगायगा। इस काम के द्वारा ग़रीब लोगों की जेब में कुछ करोड़ रुपये तो पहुँचेंगे ही। चर्खे के विषय में जितनी मुझे आशा थी, उतनी दिलचस्पी आपने नहीं ली। मेरी तो यह कल्पना थी, कि विदेशी कपड़े के पीछे अपने देश का जो साठ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष विदेश चला जाता है, उसे हम चर्खे के द्वारा बचा लेंगे, पर मेरी यह कल्पना सफल नहीं हो सकी।

अब यह प्रस्ताव आपसे यह पूछता है, कि आप चर्खा नहीं

चलाना चाहते तो क्या इतना भी स्वदेशी का काम आप दिल से करेंगे या नहीं ? यह काम आपको अच्छा लगे तभी इस प्रस्ताव को पास कीजिए, नहीं तो नहीं। इसमें मेरे साथ सौदा करने या मुझे रिझाने की कोई बात नहीं है।

## राजनीति से अलग

इस संघ का काँग्रेस के साथ, बस, वैसा ही सम्बन्ध रहेगा जैसा कि चर्खा-संघ का है। चर्खा-संघ को शंकरलाल, जमनालाल आदि चला रहे हैं, तो भी काँग्रेस उनके काम की जाँच कर सकती है। कुमारप्पा तो काँग्रेस के आदमी हैं ही। बिहार में हमारे भूकम्प निधि के लाखों रुपये का हिसाब-किताब यही रख रहे हैं। भारत-सरकार द्वारा जनता के मत्थे मढ़े हुए ऋण की जाँच-पड़ताल करने के लिए काँग्रेस ने जो कमेटी नियत की थी, उसके मंत्री यही कुमारप्पा थे। वह एक 'चारटर्ड एकाउण्टेण्ट' हैं। उन्होंने बड़ा त्याग किया है। रुपये-पैसे की उन्हें कोई कमी नहीं है। इस काम में वह बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। मैंने उनसे इस विषय में बात की है और उन्होंने मेरी देख-रेख में यह काम करना स्वीकार भी कर लिया है।

इस काम को मैं राजनीति दृष्टि से नहीं करना चाहता, पर इस दृष्टि से करना चाहता हूँ, कि ग़रीब बेकार ग्रामवासियों को इससे दो पैसे मिलें। इसीलिए इसे मैं राजनीति से अलग रखना चाहता हूँ। आप लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि, जो दो लाख बीस हज़ार कतैये, बीस हज़ार धुनिये और बुनकर चर्खा-संघ का दिया हुआ काम कर रहे हैं, उनमें काँग्रेस का एक भी सदस्य नहीं है। कांग्रेस-विधान में सूत-मताधिकार भी है, इसलिए वे चाहें तो उसके

सदस्य हो सकते हैं, पर इसके लिए हमने प्रयत्न किया ही नहीं। ऐसा करने से भी वे हमारे राजनैतिक कार्य से अपरिचित तो हैं नहीं। वे यह जानते हैं, कि कांग्रेस में तो हम उनकी सेवा करने के लिए ही गये हैं, न कि राजनीति में उनका उपयोग करने की नीयत से। इस प्रस्ताव से कांग्रेस के ऊपर रुपये-पैसे की जवाबदारी तो कोई आती ही नहीं; वह तो सिर्फ़ कांग्रेस का नाम-भर चाहता है। यह चीज़ अगर अपको पसन्द हो तो इस प्रस्ताव के पक्ष में अपनी राय दें, नहीं तो नहीं।

[ नोट—इस प्रस्ताव पर कई संशोधन पेश हुए और कुछ पर वाद-विवाद भी हुआ। बाद को उन सब संशोधनों का जवाब देते हुए गांधीजी ने कहा—]

## नीति से कोई विरोध नहीं

एक सज्जन ने यह संशोधन पेश किया है, कि इस प्रस्ताव में से 'मरे हुए या मरते हुए धन्धे' यह शब्द निकाल दिये जायँ। इस प्रस्ताव का यह अर्थ नहीं है कि दूसरे उद्योग-धन्धों की हमें दरकार ही नहीं। जो धन्धे मर गये हैं, जिनका ख़ात्मा होगया है, या जो मरने ही वाले हैं, उन्हें प्राण-दान देना इस संघ का मुख्य काम होगा।

दूसरे संशोधन 'नैतिक तथा शारीरिक उन्नति' इन शब्दों को निकाल देना चाहते हैं। ये शब्द इसलिए रखे गये हैं, कि इस प्रस्ताव का उद्देश्य गाँववालों को सिर्फ़ पैसा देने का ही नहीं है, बल्कि उनके चरित्र की रक्षा करने का भी है। कोई मनुष्य दारू या ताड़ी का धन्धा करता हो, तो उसे हम यह समझायेंगे, कि वह उस चीज़ को छोड़कर कोई दूसरा धन्धा हाथ में ले ले। हम तो ख़ुदाई ख़िदमतगार

बनकर उनके पास जायँगे। मैं तो सभी उद्योग-धन्धों की खोज-बीन करना चाहता हूँ, और वह केवल अर्थ-शास्त्री की दृष्टि से नहीं। इन लोगों की सभी प्रकार की स्थिति का पता लगाना होगा। इस काम में अध्यापक डाक्टर आदि की मदद तो मुझे लेनी ही होगी।

इस संस्था को कांग्रेस की राजनीति से जो मैंने अलिप्त रखा है, उसका एक ख़ास उद्देश्य है। राजनैतिक स्थिति चाहे जैसी हो तो भी इस काम को तो चलता ही रहना चाहिए। हम अपने ग्राम-वासी भाइयों के पास सेवा करने के इरादे से ही जायँ, उनके कान में राजनीति का मंत्र फूँकने नहीं। हमें तो उन्हें स्वस्थ बनाने, रोग-मुक्त करने, उनकी गन्दगी छुड़ाने, उन्हें उद्यम में लगाने और बेकारी दूर करने की नीयत से ही उनके पास जाना चाहिए। हमारा अगर यह हेतु हो तो हम इस काम में राजनीति को नहीं ला सकते। कांग्रेस जब ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई थी तब भी चर्खा-संघ ग़ैर-क़ानूनी नहीं ठहराया गया, और उसका काम बराबर वैसा ही चलता रहा, तो भी वह कांग्रेस की ही संस्था है। पर कांग्रेस की राजनीति से चर्खा-संघ अलग ही रहता है। ठीक यही स्थिति इस नये संघ की भी रहेगी।

करांची में मैंने यही बात कही थी। उस दिन जिन लोगों ने मेरा विरोध किया था, बाद को वे मुझसे कहते थे, कि तुम्हारा कहना सच था। मैंने उस समय अस्पृश्यता-निवारण-समिति और मद्य-निषेध-समिति को काँग्रेस की राजनीति से अलग रखने की सलाह दी थी, और वह सलाह ठीक ही थी। एक सज्जन ने कहा है कि यह काम तो 'कुमारप्पा एण्ड को०' के द्वारा होगा। फिर काँग्रेसवालों के लिए क्या काम रह जायगा? ऐसी तो कोई बात ही नहीं है। इस संघ में तो उस प्रत्येक काँग्रेस-जन के लिए स्थान रहेगा, जिसकी इस काय

में श्रद्धा होगी। आज चर्खा-संघ में जो ११०० खादी-सेवक कामकर रहे हैं, वे सब-के-सब काँग्रेसवादी ही हैं।

## सच्चा समाजवाद

श्री गोविन्दसहाय ने कहा है, कि यह सब मैं प्राचीन युग की बात कर रहा हूँ, और मैं यन्त्रों का कट्टर दुश्मन हूँ। मेरे लेखों को, जान पड़ता है, उन्होंने कुछ वक्रदृष्टि से पढ़ा है। मेरे सामने जो यह चर्खा रखा है, क्या यह यन्त्र नहीं है? अरे, यन्त्रों से कौन इन्कार करता है? पर हमें उनका ग़ुलाम नहीं बनना है। ग़ुलाम तो वे हमारे बनें। हमें तो गरीबों का ग़ुलाम बनना है, अमीरों का नहीं। पैसेवालों से मैं गरीबों के लिए पैसों की मदद ले लेता हूँ; पर कोई मिल-मालिक या कल-कारख़ानेदार मुझे पाँच हज़ार रुपये दे तो क्या इसमें मैं उस की मदद करूँगा? जो मुझे दें उन्हें तो यह समझकर ही देना चाहिए, कि गरीबों के पास से जो हमने बहुत-सा पैसा इकट्ठा कर लिया है, उसमें से यह थोड़ा पैसा उनके काम के लिए हम दे रहे हैं। धनिकों से पैसा लेकर मैं तो उन्हें लूट रहा हूँ। कुछ लोग कहते हैं, कि मैं धनिकों का दलाल हूँ। पर मुझसे पूछो तो मैं तो एक मजूर हूँ। मैंने मजूरों के साथ मजूरी की है। मैं उनके साथ रहा हूँ। उनके साथ मैंने खाया है, पीया है। मैं मजूरों का प्रतिनिधि होने का दावा करता हूँ, और उनके लिए धनिकों से पैसा लेता हूँ। अपने देश के ३५ करोड़ लोगों को मैं यन्त्रों का ग़ुलाम नहीं बनाना चाहता। मैं इसमें साम्यवाद या समाजवाद की कल्पना नहीं कर सकता। समाजवाद का अर्थ तो मैं यह करता हूँ, कि लोग स्वावलम्बी हो जायं। ऐसा करने से ही वे धनिकों की लूट-मार से

बचेंगे। मैं तो मज़दूरों को यह समझा रहा हूँ, कि पूँजीपतियों के पास सोना-चाँदी है, तो तुम्हारे पास हाथ-पैर हैं और सोना-चाँदी की तरह यह भी एक तरह की पूँजी ही है। पूँजीपति का काम बिना मज़दूर के नहीं चल सकता। कोई इसे यह न समझ बैठे, कि हम इस इस संघ के द्वारा पूँजीपतियों का काम करके मज़दूरों को ग़ुलाम बनाने की बात कर रहे हैं। बात तो बल्कि इससे उलटी है। हमें तो इसके द्वारा ग़ुलामी के बन्धन से मुक्त करना है। बात तो उन्हें स्वावलम्बी बनाने की है। इसमें उन्हें ग़ुलाम बनाने की कल्पना कैसे हो सकती है? इस सारी योजना पर मैंने ख़ूब अच्छी तरह विचार किया है, और उसके बाद ही इसे उपस्थित किया है। ग्राम-उद्योगों को जिलाने का यही एक मार्ग है, और इसमें मैं आप लोगों की मदद चाहता हूँ।

ह० से० ९-११-३४

: ७ :

# ग्राम-उद्योग

ग्राम-उद्योगों के सम्बन्ध में काँग्रेस ने जो प्रस्ताव पास किया है उसका रचयिता मैं हूँ, और इन उद्योगों की उन्नति के लिए जो संघ स्थापित होनेवाला है, उसका एकमात्र सलाहकार भी मैं ही हूँ। इसलिए इन उद्योगों के सम्बन्ध में, और इनसे जनता के चरित्र तथा स्वास्थ्य को जिस लाभ के होने की आशा है, उसके विषय में मेरे मन में जो विचार चक्कर लगा रहे हैं उन विचारों को मैं क्यों न जनता के आगे रख दूँ।

हरिजन-यात्रा के सिलसिले में जब इस वर्ष के आरम्भ में मैं मलाबार गया था, तभी इस ग्राम-उद्योग-संघ के स्थापित करने का विचार एक प्रकार से निश्चित हो गया था। कोचीन राज्य के एक खादी-सेवक के साथ बात करते हुए मैंने देखा, कि शहर के लोगों ने गाँववालों के पास से जिस चीज़ को क्रूरता और अविचारपूर्वक छीन लिया है, वह चीज़ अगर हमें ईमानदारी के साथ उन्हें लौटा देनी है, तो एक ग्राम-उद्योग-संघ के स्थापित करने की अत्यन्त आवश्यकता है। गाँववालों में भी सबसे सख़्त मार ग़रीब हरिजनों पर पड़ी है। साधारण ग्रामवासियों के लिए जिन उद्योगों के करने की स्वतन्त्रता है, उनमें थोड़े से ही धन्धे हरिजन कर सकते हैं। इस-लिए जब उनके हाथ से उनके उद्योग-धन्धे खिसक गये तब जिन

पशुओं के साथ वे दिन-रात रहते हैं, उन्हींकी तरह वे जड़, बुद्धि-हीन और निस्तेज बन गये।

मगर सामान्य ग्रामवासियों की भी आज इससे कुछ अच्छी स्थिति नहीं है। धीरे-धीरे अब वहाँ धरती खरोंच-खरोंच कर दो ग्रास अन्न से पेट भरने की नौबत पहुँच रही है। आज यह बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि हिन्दुस्तान के छोटे-छोटे बचे-खुचे खेत-खलिहानों में खेती करने में किसान को लाभ के बदले हानि ही हो रही है। गाँव के लोगों में आज जीवन नहीं दिखाई देता। उनके जीवन में न आशा रही है न उमंग और न उत्साह है न स्फूर्ति। भूख धीरे-धीरे उनके प्राणों को चूस रही है। उधर ऋण के गर्दन-तोड़ बोझ से जुदे दबे जा रहे हैं। साहूकार उन्हें क़र्जा देता है, क्योंकि न दे तो जाय कहाँ? न देने से तो उसका सारा पैसा डूब जाय। कितनी ही जाँच-पड़ताल की जाय, गाँवों के क़र्ज़े का यह गोरख-धन्धा कभी सुलझने का नहीं। जाँच तो हमने इसकी काफ़ी बारीकी से की है, फिर भी इस विषय की हमारी जानकारी नगण्य ही है।

ग्राम-उद्योगों का यदि लोप होगया तो भारत के ७ लाख गाँवों का सर्वनाश या निर्वाण ही समझिए।

ग्राम-उद्योग सम्बन्धी मेरी प्रस्तावित योजना पर इधर दैनिक पत्रों में जो टीकायें हुई हैं, उन्हें मैंने पढ़ा है। कई पत्रों ने तो मुझे यह सलाह दी है, कि मनुष्य की अन्वेषण बुद्धि ने प्रकृति की जिन शक्तियों को अपने वश में कर लिया है, उनका उपयोग करने से ही गाँवों की मुक्ति होगी। उन आलोचकों का यह कहना है कि प्रगति-शील पश्चिम में जिस तरह पानी, हवा, तेल और बिजली का पूरा-पूरा उपयोग हो रहा है उसी तरह हमें भी इन चीज़ों को काम में

लाना चाहिए। वे कहते हैं, इन निगूढ़ प्राकृतिक शक्तियों पर क़ब्ज़ा कर लेने से प्रत्येक अमेरिकावासी ३३ ग़ुलामों को रख सकता है, अर्थात् ३३ ग़ुलामों का काम वह इन शक्तियों के द्वारा ले सकता है।

इस रास्ते अगर हम हिन्दुस्तान में चलें तो मैं यह बेधड़क कह सकता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य को ३३ ग़ुलाम मिलने के बजाय इस मुल्क के एक-एक मनुष्य की ग़ुलामी ३३ गुनी बढ़ जायगी।

उद्योगों के यंत्रीकरण की बात लीजिए। यंत्रों से काम लेना उसी अवस्था में अच्छा होता है, जबकि किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए आदमी बहुत ही कम हों, या नपे-तुले हों। पर यह बात हिन्दुस्तान में तो है नहीं। यहाँ काम के लिए जितने आदमी चाहिएँ, उससे कहीं अधिक बेकार पड़े हुए हैं। इसलिए उद्योगों के यन्त्रीकरण से यहाँ की बेकारी घटेगी या और बढ़ेगी? कुछ वर्ग-गज़ ज़मीन खोदने के लिए मैं हल का उपयोग नहीं करूँगा। हमारे यहाँ यह सवाल तो है नहीं, कि हमारे गाँवों में जो लाखों-करोड़ों आदमी भरे पड़े हैं, उन्हें परिश्रम की चक्की से निकालकर किस तरह छुट्टी दिलाई जाय। हमारे आगे तो प्रश्न यह है कि उन्हें साल में जो छः महीने का समय योंही बैठे-बैठे आलस में बिताना पड़ता है, उसका उपयोग कैसे किया जाय? कुछ लोगों को मेरी यह बात शायद विचित्र लगेगी। दरअसल बात यह है कि प्रत्येक मिल सामान्यतः गाँवों की जनता के लिए आज त्रासरूप हो रही है। उनकी रोज़ी पर ये मायाविनी मिलें छापा मार रही हैं। मैंने बारीकी से आंकड़े एकत्र नहीं किये, पर इतना तो कह ही सकता हूँ कि गाँवों में बैठकर कम-से-कम दस मजूर जितना काम करते हैं, उतना ही काम मिल का एक मजूर करता है। इसे यों भी कह सकते हैं, कि दस

आदमियों की रोज़ी छीनकर यह एक आदमी गाँवों में जितना कमाता उससे कहीं अधिक कमा रहा है। इस तरह कताई और बुनाई की मिलों ने गाँवों के लोगों की जीविका का एक बड़ा भारी साधन छीन लिया है। ऊपर की दलील का यह कोई जवाब नहीं है कि ये मिलें जो कपड़ा तैयार करती हैं वह अधिक अच्छा और काफ़ी सस्ता होता है। कारण यह है कि इन मिलों ने अगर हज़ारों मजूरों का धन्धा छीनकर उन्हें बेकार बना दिया है तो सस्ते-से-सस्ता मिल का कपड़ा गाँवों की बनी हुई महँगी-से-महँगी खादी से भी महँगा है। कोयले की खान में काम करनेवाले मजूर जहाँ रहते हैं, वहीं वे कोयले का उपयोग कर सकते हैं, इसलिए उन्हें कोयला महँगा नहीं पड़ता। इसी तरह जो ग्रामवासी अपनी ज़रूरत भर के लिए खुद खादी बना लेता है, उसे वह महँगी नहीं पड़ती; पर मिलों का बना कपड़ा अगर गाँवों के लोगों को बेकार बना रहा है तो चावल कूटने और आटा पीसने की मिलें हज़ारों स्त्रियों की न केवल रोज़ी ही छीन रही हैं, बल्कि बदले में तमाम जनता के स्वास्थ्य को हानि भी पहुंचा रही हैं। जहाँ लोगों को मांस खाने में कोई आपत्ति न हो और मांसाहार जहाँ पुसाता हो, वहाँ मैदा और पालिशदार चावल से शायद हानि न होती हो; पर हमारे देश में जहाँ करोड़ों आदमी ऐसे हैं कि उन्हें मांस मिले तो वे खाने में आपत्ति नहीं करेंगे पर उन्हें मांस मिलता ही नहीं, वहाँ उन्हें हाथ की चक्की के पिसे गेहूँ के आटे और हथकुटे चावल के पौष्टिक तथा जीवन-प्रद तत्त्वों से वंचित रखना एक प्रकार का पाप है। इसलिए डाक्टरों तथा दूसरे आहार-विशेषज्ञों को चाहिए कि मैदे और मिल के कुटे पालिशदार चावल से लोगों के स्वास्थ्य को जो हानि हो रही है उससे वे जनता को आगाह कर दें।

मैंने सहज ही नज़र में आनेवाली जो कुछ मोटी-मोटी बातों की तरफ यहाँ ध्यान खींचा है, उसका यही उद्देश्य है कि अगर ग्राम-वासियों को कुछ काम देना है तो वह यंत्रों के द्वारा सम्भव नहीं। उनके उद्धार का सच्चा मार्ग तो यही है, कि जिन उद्योग-धन्धों को वे अबतक किसी क़दर करते चले आ रहे हैं, उन्हींको भली-भांति जीवित किया जाय।

इसलिए मेरे अभिप्राय के अनुसार अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग संघ का काम यह होगा, कि जो उद्योग-धन्धे आज चल रहे हैं, उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय, और जहाँ हो सके, और जहाँ वांच्छनीय हो, वहाँ नष्ट या नष्ट होनेवाले ग्राम-उद्योगों को गाँवों की पद्धति से—अर्थात वह रीति कि जिस रीति से अनादिकाल से गाँववाले अपनी झोपड़ियों में काम करते आ रहे हैं—सजीव किया जाय। जिस प्रकार हाथ की ओटाई, धुनाई, कताई और बुनाई की क्रियाओं और औज़ारों में बहुत उन्नति हुई है, उसी प्रकार ग्राम-उद्योगों की पद्धति में भी काफ़ी सुधार किया जा सकता है।

एक आलोचक ने यह आपत्ति उठाई है कि प्राचीन पद्धति का अनुसरण करके प्रत्येक मनुष्य अपनी व्यक्तिगत आकांक्षा की पूर्ति कर लेता है; इस रीति से सामूहिक कार्य कभी नहीं हो सकता। यह दृष्टि मुझे बड़ी थोथी मालूम देती है। इसके पीछे कोई गहरा विचार नहीं है। ग्रामवासी भले ही वस्तुओं को अपने झोंपड़ों में बैठकर बनावें पर यह बात नहीं कि वे सब चीज़ें इकट्ठी न की जा सकें और उनसे होनेवाला मुनाफ़ा लोगों में न बंट सके। ग्रामवासी किसी की देख-रेख में किसी खास योजना के अनुसार काम करें। कच्चा माल सार्वजनिक भण्डार से दिया जाय। अगर सामूहिक कार्य करने की

इच्छा ग्रामवासियों के अन्दर पैदा कर दी जाय तो सहयोग, श्रम-विभाग, समय के बचाव और कार्य-कुशलता के लिए तो निश्चय ही काफ़ी अवकाश है। आज ये सारी चीज़ें अखिल-भारतीय-चर्खा-संघ ५००० से ऊपर गाँवों में कर रहा है।

किन्तु खद्दर गाँवों के सौर-मण्डल का सूर्य है, और अन्यान्य विविध उद्योग इस मण्डल के ग्रह हैं। इन उद्योग-रूपी ग्रहों को खद्दर-रूपी सूर्य से जो उष्णता और प्राण-शक्ति मिल रही है, उसके बदले में वे खद्दर को टिकाये हुए हैं। बिना खादी के अन्य उद्योगों का विकास होना असम्भव है। किन्तु मैंने अपनी गत हरिजन-यात्रा में यह देखा कि अगर दूसरे उद्योग-धन्धे ज़िन्दा न किये गये तो खादी की अधिक उन्नति नहीं हो सकती। ग्राम-वासियों में अगर उनके फ़ुर्सत के समय का सदुपयोग करने की क्रिया-शीलता और क्षमता उत्पन्न करनी है, तो ग्राम-जीवन का सभी पहलुओं से स्पर्श करके उसमें नव-चेतना का संचार करना होगा। आशा है, कि यह नवीन संघ यह सब काम करेगा।

स्वभावतः राजनीति या राजनैतिक दलों के साथ इस संघ का कोई वास्ता नहीं है। मेरा विश्वास है, कि काँग्रेस ने इन दोनों ही संघों को, जो सर्वांश में स्वतन्त्र और राजनीति से सर्वथा अलिप्त रक्खा है, यह अच्छा ही किया है। गाँवों की आर्थिक, नैतिक और आरोग्य सम्बन्धी उन्नति करने का काम सभी दल और सभी जातियाँ कन्धेसे-कन्धा भिड़ाकर कर सकती हैं।

मुझे मालूम है, कि एक वर्ग ऐसा है, जो खादी को आर्थिक दृष्टि से लाभदायक मानता ही नहीं। मुझे आशा है कि इस वर्ग के लोग मेरे इस कथन से भड़क नहीं जायंगे कि खादी ग्राम-सेवा की प्रवृत्तियों

का केन्द्र है। खादी तथा अन्य ग्राम-उद्योगों का पारस्परिक सम्बन्ध बताये बिना मैं अपने अन्तर का कल्पना-चित्र ठीक-ठीक अंकित नहीं कर सकता था। जो लोग खादी और अन्य ग्राम-उद्योगों के इस सम्बन्ध को न मानते हों, वे दूसरे उद्योगों में भले अपनी शक्ति लगावें। पर मैंने इस लेख में जिस भूमिका के बाँधने का प्रयत्न किया है, उसे अगर उन्होंने समझ लिया हो तो इन ग्राम-उद्योगों को सजीव करने का काम भी वे लोग इस नये संघ के द्वारा कर सकेंगे।

ह० से० २३-११-३४

: ८ :

# ग्राम-उद्योग-संघ

[ काँग्रेस के बाद पिछले हफ्ते इधर गांधीजी को बहुत काम करना पड़ा है। उनके मन में आज-कल ग्राम-उद्योग-संघ के ही विचार घर किये हुए हैं, और उनका इस विषय का पत्र-व्यवहार इतना अधिक बढ़ गया है, कि उनका निपटाना मुश्किल होगया है। पर दो सप्ताह पहले गाँधी-सेवा-संघ के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर तो काम बहुत बढ़ गया था। गाँधी-सेवा-संघ मे ऐसे कितने ही चुने हुए देश-सेवक हैं, जो रचनात्मक कार्य के लिए अपना सारा समय देने को सतत तत्पर रहते हैं। उनके आगे गाँधीजी ने उन दिनो अपना जो तीसरा भाषण दिया, उसमें उन्होंने ग्राम-उद्योग संघ का अर्थ और उसका कार्य-विस्तार भलीभांति समझाया था। नीचे उस भाषण का सारांश दिया जाता है।—म०ह०दे]

## संघ की बात उठी कैसे ?

**यह तो आप लोगों में से कई सज्जन जानते ही होंगे कि यह ग्राम-उद्योग-संघ की बात किस तरह मेरे मन में आई। गत वर्ष हरिजन-कार्य के निमित्त जब मैं समस्त देश का भ्रमण कर रहा था, तब मुझे यह सूर्य-प्रकाश की नाई स्पष्ट दिखाई दिया कि जिस प्रकार आज हम खादी का कार्य चला रहे हैं, उस प्रकार से तो खादी देश-व्यापी होने की नहीं, और इस तरह हमारे ग्रामों को नया जीवन भी मिलने का नहीं। मैंने देखा कि खादी पहननेवाले देश में बहुत ही थोड़े हैं, और जो लोग केवल खादी पहनते हैं, वे भी कुछ ऐसा मानते हैं, कि**

बस अब हमने जग जीत लिया, और अब करने को रहा ही क्या— चाहे जिन चीज़ों को, वे चाहे जिस तरह तैयार हुई हों, हम उनका उपयोग कर सकते हैं। मुझे ऐसा दिखाई दिया, कि खादी के पीछे हमारी जो भावना है उसे भुलाकर केवल एक जड़ रूढ़ि की तरह हम खादी का उपयोग करने लगे हैं। मैंने देखा, कि अगर यही दशा बनी रही तो केवल पोषण के अभाव से ही खादी का खात्मा हो जायगा। अगर एकाग्रता और उत्कटतापूर्वक हम केवल खादी के ही कार्य में अपने को लगा दें तो उसमें निश्चयेन हमें सफलता मिले। पर मुझे न तो वैसी कहीं एकाग्रता ही दिखाई दी, न उत्कटता ही। हम सब लोगों ने न तो अपना अवकाश का सारा समय ही कभी चर्खे या तकली को दिया और न हम सबने केवल खादी ही पहनने का व्रत लिया—यद्यपि कतैयों की संख्या से खादी पहननेवालों की संख्या अवश्य अधिक रही। मगर बाक़ी के सब आदमी हाथ-पर-हाथ धरे ही बैठे रहे। लाखों मनुष्य अनिच्छापूर्वक व्यर्थ दिन काटते रहे। मैंने देखा कि यह स्थिति तो हमारा सत्यानाश करके ही छोड़ेगी। मुझे यह लगा कि इन लोगों को कभी स्वराज्य प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि ये लाग चाहे अनिच्छा से आलस में बैठे-बैठे दिन काट रहे हों, या स्वेच्छा से, तो भी विदेशी तथा देशी लुटेरों का शिकार तो इन्हें सदा बना ही रहना है। इन्हें लूटनेवाले विलायत के हों या हिन्दुस्तान के शहरों के हों, इनकी स्थिति तो ऐसी ही सदा रहेगी, इन्हें स्वराज्य मिलने-मिलाने का नहीं। इसलिए मैंने अपने मन में कहा, कि 'ये लोग अगर खादी में रस नहीं लेना चाहते तो इनसे कुछ दूसरा काम करने के लिए कहना चाहिए; ये लोग कोई ऐसा काम क्यों न करें, जो इनके बाप-दादे करते थे, पर जो-कुछ समय से बन्द हो गया

है ?' थोड़े ही बरस हुए कि ये लोग अपने नित्य के उपयोग की अनेक चीजें खुद ही बना लेते थे, पर अब उनके लिए उन्हें बाहर की दुनिया के आसरे रहना पड़ता है। छोटे-छोटे क़स्बों में रहनेवाले लोगों के नित्य के उपयोग की ऐसी बहुत-सी चीजें थीं, जिनके लिए उन्हें गाँववालों पर निर्भर रहना पड़ता था, पर अब उन चीज़ों को वे लोग शहर में मंगा लेते हैं। जिस क्षण ग्रामवासी अपने अवकाश के सारे समय को किसी उपयोगी काम में लगाने का पक्का इरादा कर लेंगे, साथ ही, शहरवाले इन गाँव की बनी हुई चीज़ों को काम में लाने का संकल्प कर लेंगे, उसी क्षण गाँववालों तथा शहरवालों का जो पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध टूट गया है, वह फिर से जुड़ जायगा। मृत अथवा मृतप्राय ग्राम-उद्योगों और कलाओं में से कौन-कौन उद्योग और हुनर सजीव किये जा सकते हैं, इस विषय में तो हम निश्चय-पूर्वक तबतक कुछ भी नहीं कह सकते, जबतक कि हम गाँवों में जाकर उनकी ठीक-ठीक तहक़ीक़ात करके उनके कोष्टक न बनालें और उनका वर्गीकरण न कर लें। पर मैंने सबसे महत्त्व की तो अभी से दो चीजें चुनली हैं, खाने-पीने की चीजें और पहनने-ओढ़ने की चीजें। पहनने-ओढ़ने की चीज़ों में खादी तो हमारी है ही। रही आहार की चीजें, सो इस विषय में हम पहले दूसरों के आसरे नहीं रहते थे; पर आज वह स्थिति नहीं रही, आज तो खाने-पीने की चीज़ों में भी हम परावलम्बी हो गये हैं। थोड़े ही बरस पहले हम हाथ से ओखली में चावल कूट लेते और जाँते में आटा पीस लेते थे। थोड़ी देर के लिए स्वास्थ्य के प्रश्न को अलग रख दीजिए, तो भी यह तो निर्विवाद है, कि आटे और चावल की मिलों ने लाखों स्त्रियों का काम बड़ी बेदर्दी से छीन लिया है, न जाने कितनी असहाय

बेवा और अनाथ स्त्रियों का पेट पल जाता था, पर आज तो इन ज़ालिम मिलों ने उनकी रोज़ी को भी पीस डाला है। गुड़ का स्थान यह शक्कर लेती जा रही है; और बिस्कुट और मिठाई जैसी-बनी-बनाई चीजें हमारे गाँव में बिना किसी रोक-टोक के पैठती चली जा रही हैं। इसका यह अर्थ है, कि गाँवों के प्रायः सभी उद्योग धीरे-धीरे ग्राम-वासी के हाथ से जा रहे हैं और बेचारा ग्राम-वासी अपने लुटेरों के लिए कच्चा-माल पैदा करने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता। वह एकदम असमर्थ और पंगू हो गया है। वह हमेशा देता ही है, बदले में उस बेचारे को मिलता-मिलाता कुछ भी नहीं। कच्चे माल के बदले उसे जो नगण्य-सा पैसा मिलता है, उसे भी वह शक्कर और कपड़े के व्यापारी के हवाले कर देता है। उसके पल्ले एक पाई भी नहीं रहती। जिन पशुओं के संग-साथ वह दिन-रात रहता है, उन्हींके जैसा उसका मन और शरीर होगया है। जब हम विचार करते हैं तो हम देखते हैं, कि पचास बरस पहले के ग्रामवासी में जितनी समझ या चतुराई थी, उससे आधी भी तो आज के ग्रामवासी में नहीं रही। कारण यह है, कि आज का ग्रामवासी तो दारिद्र्य, परावलम्बन और आलस्य के गर्त्त में गिर पड़ा है, जबकि पचास बरस पहले का ग्रामवासी अपनी ज़रूरत भर की चीज़ों को अपनी बुद्धि और अपने हाथ से खुद तैयार कर लेता था। गाँव के कारीगर की भी दशा गाँव के दूसरे लोगों से कुछ बेहतर नहीं। उसकी भी बुद्धि उन्हींकी-जैसी जड़ हो गई है। गाँव के बढ़ई के पास आप जायँ, चर्खा बना देने के लिए कहें या गाँव के लुहार से तकुआ बना देने को कहें तो आपको निराश होना पड़ेगा। यह बड़े दुःख की अवस्था है। इस रोग का इलाज करने

के लिए ही ग्राम-उद्योग-संघ का यह विचार मेरे मन में उठा है।

## पश्चाद्गमन है क्या ?

कुछ आलोचक कहते हैं, कि 'गाँवों की ओर' की इस पुकार से तो हमारी प्रगति का काँटा उलटा पीछे की ओर घूम जायगा। पर क्या यह बात सच है ? इसमें गाँव की ओर हमारे पिछड़ने की बात है, या जिस चीज़ पर गाँव का अपना अधिकार था, उसे लौटा देने की बात है ? शहर के लोगों से मैं यह तो कहता नहीं कि तुम गाँवों में जाकर बस जाओ। मैं तो उनसे सिर्फ़ इतना ही कहता हूँ, कि तुम्हारे ऊपर गाँवों का जो कर्ज़ा चढ़ा हुआ है, उसे अदा कर दो। गाँववाला न दे तो शहरवाले को कच्चे-माल की एक भी चीज़ बताओ कहाँ से मिल सकती है ? पहले तो ये गाँवों के लोग अपने निस्तार की चीज़ें ख़ुद तैयार करते ही थे और आज भी तैयार करते होते, पर शहरवालों की लूट-खसोट के मारे बेचारे कर ही कहाँ सकते हैं ? तो हम क्यों न उन्हें पुनः उनके मृत अथवा मृतप्राय उद्योग-धन्धों की ओर ले जायँ ?

## भगीरथ कार्य

पर ग्राम-वासी को उसकी उसी प्राकृतिक स्थिति पर पुनः पहुँचा देना कोई आसान काम नहीं है। मैंने यह सोचा था कि श्री कुमारप्पा की सहायता से मैं शीघ्र ही इस संघ का विधान बना लूँगा और इसका काम चालू कर दूंगा। मगर मैं इस काम में ज्यों-ज्यों गहरा उतरता जाता हूँ, त्यों-त्यों मैं और नीचे धंसता चला जाता हूँ। इस काम की अगम थाह मुझे अबतक मिल नहीं सकी। एक तरह से यह काम खादी से कठिन है। खादी में तो कोई

ऐसा अटपटा सवाल ही नहीं आड़े आता। तमाम विदेशी और मशीन के बने कपड़े का त्यागकर दिया कि खादी मज़बूत पाये पर खड़ी होगई। पर यह क्षेत्र तो इतना विशाल है, उद्योगों में इतनी अपार विविधता है, कि हमारे अन्दर जितनी कुछ व्यापारी प्रतिभा होगी, जितना कुछ विशेष कौशल और वैज्ञानिक ज्ञान होगा, उस सबको कसौटी पर कसना है। बिना सख़्त मेहनत के, बिना अविराम प्रयत्न के और इस महान कार्य में अपनी समस्त व्यावारिक तथा वैज्ञानिक प्रतिभा लगाये बिना हमारा मतलब पूरा होने का नहीं। मैंने अपने यहाँ के अनेक डाक्टरों और रसायन-शास्त्रियों के पास एक प्रश्नावली भेजी थी, और उनसे यह प्रार्थना की थी, कि आप लोग पालिश किये हुए और बिना पोलिश के चावल, गुड़ और खाँड़ इत्यादि का रासायनिक विश्लेषण तथा आहार की दृष्टि से इन सब चीज़ों के मूल्य के विषय में कृपया अपनी सम्मति मेरे पास भेज दें। मैं आभार मानता हूँ, कि मेरे अनेक मित्रों ने तुरन्त ही मेरे प्रश्नों का जवाब लिख भेजा; पर इतना क़बूल करने के लिए ही, कि मैंने जिन विषयों के बारे में पूछा था, उनमें कितने ही विषयों का अभी बिलकुल ही शोध नहीं हुआ। इससे बड़ी दुःख की बात और क्या हो सकती है, कि गुड़-जैसी सादी चीज़ का रासायनिक विश्लेषण कोई विज्ञान-शास्त्री न बता सके? इसका कारण यह है कि हमने ग्रामवासियों के सम्बन्ध में कभी विचार किया ही नहीं। शहद को ही ले लीजिए! मैंने सुना है कि विदेशों में शहद का विश्लेषण इतनी बारीकी से किया जाता है, कि जो नमूना अमुक कसौटी पर खरा नहीं उतरता उसे बाज़ार में बिकने के लिए शीशी में भरते ही नहीं। हिन्दुस्तान में हमारे पास सुन्दर-से-सुन्दर शहद पैदा करने के लिए इतनी अधिक

सामग्री पड़ी हुई है कि जिसका कुछ हिसाब नहीं। पर बात तो यह बिगड़ी है न, कि इस विषय का हमें कोई विशेष ज्ञान नहीं। मेरे एक डाक्टर मित्र ने लिखा है कि हमारे अस्पताल में तो पालिश किये हुए चावल का उपयोग हो ही नहीं सकता—चूहों तथा दूसरे प्राणियों पर प्रयोग करके देखा गया तो यह साबित हुआ कि यह पालिश किया हुआ चावल हानिकारक है। किन्तु सभी डाक्टरों ने अपने संशोधन तथा प्रयोगों के परिणाम प्रकाशित क्यों नहीं किये, और एक स्वर से यह स्पष्टतया क्यों नहीं घोषित कर दिया कि यह पालिशदार चावल निश्चय ही हानिकारक है ?

## आवश्यकता स्वयंसेवकों की है

मैंने तो केवल एक-दो उदाहरण देकर अपनी कठिनाइयों का आशय बतलाया है। हमें किस प्रकार का विधान बनाना चाहिए ? हमें प्रयोग-शालाओं में किस प्रकार का शोधन कराना चाहिए ? हमें ऐसे अनेक वैज्ञानिकों और रासायनिकों की आवश्यकता पड़ेगी जो हमें अपने ज्ञान का लाभ देने के लिए तत्पर हों; और इतना ही नहीं बल्कि जिस दिशा का मैंने ऊपर निर्देश किया है, उस दिशा में प्रयोग करने-कराने के लिए जो अवैतनिक रूप से अपना काफ़ी समय देने को राज़ी हों। हमें इन प्रयोगों का परिणाम समय-समय पर प्रकाशित करना पड़ेगा और उन्हें प्रमाण-पत्र देने होंगे। इसके अलावा हमें इसका भी पता लगाना होगा कि ग्राम-वासी एकाध अपने उपयोग या आहार की वस्तु बनाते हैं, उसे वे बाहर भेज कर खुद बाहर से आई हुई चीज़ को अपने उपयोग में तो नहीं लाते। हमें यह भी देखना पड़ेगा कि ग्राम-वासी सबसे पहले अपनी आवश्यकताओं की

पूर्ति खुद कर लेते हैं, और इसके बाद ही शहरवालों की आवश्यकताओं के लिए माल पैदा करते हैं न।

इस सब काम के लिए हमें ज़िला-संघ बनाने पड़ेंगे—और जहाँ ज़िला बहुत बड़ा होगा, वहाँ हमें ज़िले के भी विभाग कर देने होंगे। ऐसे ज़िले लगभग २५० हैं। ऐसे प्रत्येक ज़िला-संघ में हमारा एक एजेण्ट होगा। प्रधान कार्यालय से उसके पास जो सूचनायें भेजी जायँगी, उनके अनुसार वह गाँवों के उद्योग-धन्धों की जाँच-पड़ताल करेगा और उस विषय की रिपोर्ट तैयार करके भेज देगा। ये एजेण्ट ऐसे होने चाहिएं, जो इस काम में अपना सारा समय दे सकें और जो बात दूसरों से कहें उसपर खुद भी पूरी तरह से अमल करें। उनके अन्दर संघ के कार्यक्रम के विषय में जीती-जागती श्रद्धा होनी चाहिए और उन्हें अपने जीवन में तत्क्षण आवश्यक हेर-फेर करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए। इस काम में पैसा तो चाहिए ही, पर पैसे की अपेक्षा इसमें ऐसे मनुष्यों की ज़रूरत पड़ेगी, जो अटूट श्रद्धावान् हों और इस काम में ही अपना जीवन खपादें।

## प्रश्नोत्तरी

**प्रश्न**—खादी-कार्य तो अभी अधूरा ही पड़ा हुआ है, और आपने यह और एक काम छेड़ दिया है, क्या इससे खादी-कार्य पिछड़ नहीं जायगा? क्या इससे खादी को हानि नहीं पहुँचेगी?

उत्तर—कभी नहीं। खादी तो एक मध्य-बिन्दु है, इससे वह अपने स्थान से हट नहीं सकती। समस्त उद्योगों के ग्रह-मण्डल में खादी सूर्य के समान होगी। दूसरे सब उद्योगों को हमारे सूर्यरूप खादी-उद्योग से ऊष्मा तथा पोषणा प्राप्त हुआ करेगा।

**प्रश्न**—हमें किन-किन उद्योगों को सजीव करना अथवा बढ़ाना चाहिए ?

**उत्तर**—मैंने तो केवल दिशा बता दी है। जो उद्योग पहले जीवित-जागृत थे, और जिनके नष्ट होने से आज लोगों में बेकारी फैल गई है, ऐसे प्रत्येक उद्योग को हमें सहारा देना है।

**प्रश्न**—क्या हमें चावल और आटे की मिलों का बहिष्कार घोषित कर देना चाहिए ?

**उत्तर**—बहिष्कार की हमें कोई घोषणा नहीं करनी है। हम तो लोगों से यह कहेंगे, कि तुम चावल को खुद अपने हाथ से घर की ओखली में कूट लो और चक्की में अपना अनाज पीस लो। हम तो हमेशा इस प्रकार का प्रचार करते रहेंगे कि हाथ का कुटा चावल और हथ-चक्की का पिसा आटा ही स्वास्थ्य की दृष्टि से आहार की बढ़िया चीज़ें हैं।

**प्रश्न**—इस काम में क्या हम काँग्रेस-कमेटियों का उपयोग कर सकते हैं ?

**उत्तर**—अवश्य। हमें तो जहाँ से मदद मिले वहाँ से लेनी है। इस काम में हमें राजनीति का विचार नहीं करना है, इसमें पक्ष-विपक्ष की तो कोई बात ही नहीं।

**प्रश्न**—संघ का सेण्ट्रल बोर्ड बना तो इसका तो यही मतलब हुआ न कि यह कारबार इकहत्था होगया।

**उत्तर**—नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। कार्य के केन्द्र तो ज़िले रहेंगे, प्रधान कार्यालय तो बीच में बैठकर सारे हिन्दुस्तान में सिर्फ़ सूचनायें भेजा करेगा; सारे देश का कारबार वह नहीं चलायगा। इसके ज़िम्मे तो केवल पत्र-व्यवहार करने-कराने का काम रहेगा। इसके द्वारा देश-भर के एजेण्ट केवल विचारों तथा अनुभवों का

विनिमय किया करेंगे। हमें तो कारबार की इकहत्था होने से रोकना, है। हमें तो एक ऐसा मध्यवर्त्ती केन्द्र तै करना है, जहाँ से विचारों कल्पनाओं और वैज्ञानिक ज्ञान की धारा एक स्थान से फूटकर अनेक दिशाओं में प्रवाहित हो।

ह० से० २१-१२-३४

: ९ :

# उसका अर्थ

"मेरी मौलिक राय में आप आधुनिक सभ्यता के विरुद्ध एक अनन्त और अद्भुत लड़ाई छेड़ने का सूत्रपात कर रहे मालूम होते हैं। बहुत पहले आपने घोषणा की थी कि मैं इसका जागरूक शत्रु हूँ और अब आप, आपका बस चला तो, इसे अपने कुछ हज़ार बरस पहलेवाले मार्ग पर लौटा लायेंगे। मैं तो इसकी कल्पना से ही चकरा गया हूँ।"

एक स्नेही मित्र ने, जिनसे मैंने इस उद्योग में अपना सहयोग देने की बात पूछी, मेरे पत्र के जवाब में ये शब्द लिखे थे। मैं जानता हूँ कि, इन मित्र ने जैसी यह स्पष्ट राय ज़ाहिर की है, वही बहुत-से मित्रों की भी है, इसलिए मुझे अपनी स्थिति को समझा देना चाहिए। अगर मेरी स्थिति अखिल-भारतीय-ग्रामोद्योग संघ जैसी नहीं होती, तो मेरा ऐसा करना ढिठाई होती।

जब मैं ऐसे ग्रामीण धन्धों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न करता हूँ, जो पुनर्जीवित किये जाने के क़ाबिल हैं, तो मैं ऐसा कोई उद्योग नहीं कर रहा हूँ, जैसी मेरे मित्र समझते हैं। मैं तो वही करने की कोशिश कर रहा हूँ, जो कोई भी ग्रामीण-जीवन का प्रेमी या गाँवों के भिन्न-भिन्न हो जाने का दुखभरा अर्थ समझनेवाला कर रहा है या करने की कोशिश में है। अगर मैं गाँववालों से कहता हूँ कि वे अपना आटा खुद ही पीसें और उसमें से पौष्टिक चोकर को बिना निकाले ही खायें या कहता हूँ कि बेचने के लिए नहीं तो अपने व्यव-

हार के लिए ही सही तुम गन्ने का गुड़ बनाओ, तो मैं आधुनिक सभ्यता की धारा को कब लौटा रहा हूँ ? और जब मैं गाँववालों से कहता हूँ कि तुम सिर्फ कच्चा-माल उपजाकर ही न बैठ जाओ बल्कि उससे बाज़ार में खप जानेवाली चीज़ें भी बना डालो और अपनी रोजमर्रा की आमदनी में कुछ पैसे और बढ़ा लो, तो मैं क्या आधुनिक सभ्यता को उलटा ले जा रहा हूँ ?

और निश्चय ही आधुनिक सभ्यता तो हज़ार वर्ष पुरानी नहीं है। हम तो इसके आविर्भाव की सही-सही तिथि बता सकते हैं। अगर मेरा बस चले तो मैं यकीनन या तो उस सबको नष्ट कर दूँ या आमूल परिवर्तित कर दूँ जिसे आज आधुनिक सभ्यता कहकर पुकारा जाता है। लेकिन यह तो ज़िन्दगी की एक पुरानी कहानी हुई। निस्सन्देह इसका प्रयत्न तो वहाँ है ही। उसकी सफलता परमात्मा पर निर्भर है। लेकिन ऐसे प्रयत्न में आमदनीवाले ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित और प्रोत्साहित करने का प्रयत्न नहीं आता। मेरा हरेक काम — अहिंसा का प्रचार भी — थोड़ा-बहुत ऐसा प्रयत्न समझ लिया जा सकता है। ग्रामोद्योगों का पुनर्जीवन तो खादी-उद्योग का ही एक विस्तार मात्र है। हाथ-कता-बुना कपड़ा, हाथ-बना कागज़, हाथ-कुटा चावल, घर-बनी रोटी और मुरब्बे पश्चिम के लिए नई चीज़ें नहीं हैं। हाँ, हिन्दुस्तान में इनका जितना महत्व है, उसका सौवाँ हिस्सा भी वहाँ नहीं है। कारण यह है कि हमारे लिए उनके पुनर्जीवन का अर्थ है ग्रामोद्योगों का नवजीवन और उनके विनाश का अर्थ है ग्रामीणों की मृत्यु। यह यन्त्र-युग और चाहे कुछ भी कर सके लेकिन यह उन लाखों करोड़ों को रोजी नहीं दे सकता, जिन्हें इन मशीनों का प्रभाव बेकार किये बिना न रहेगा।

## : १० :

# आरम्भ कैसे करें ?

## १

बहुत-से सज्जन तो पत्र लिख-लिख कर और अनेक मित्र खुद मुझसे मिलकर यह प्रश्न पूछ रहे हैं कि किस प्रकार तो हम ग्राम-उद्योग-कार्य आरम्भ करें और सबसे पहले किस चीज़ को हाथ में लें।

इसका स्पष्ट उत्तर तो यही है, कि "इस कार्य का श्रीगणेश आप खुद ही करें, और सबसे पहले उसी काम को हाथ में लें, जो आपको आसान-से-आसान जान पड़े।"

पर इस सूत्रात्मक उत्तर से पूछताछ करनेवालों को सन्तोष थोड़े-ही होता है। इसे मैं ज़रा और स्पष्ट कर दूँ।

हममें से हरेक आदमी खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और अपने नित्य के उपयोग की चीज़ों को जाँच-परख सकता है, और विलायती अथवा शहर की बनी चीज़ों की जगह वह ग्रामवासियों की बनाई हुई उन चीज़ों को काम में ला सकता है, जिन्हें कि वे अपनी मड़ैया में या खेत-खलिहान में चार-छः पैसे के मामूली औज़ारों से सहज ही तैयार कर सकते हैं। इन औज़ारों को वे लोग आसानी से चला सकते हैं, और बिगड़ जायं तो उन्हें सुधार भी सकते हैं। विदेशी या शहर की बनी चीज़ों की जगह गाँवों की बनी चीज़ों को आप काम में लाने लगें, तो ग्राम-उद्योग-कार्य का यह बड़ा अच्छा आरम्भ होगा और आपके लिए यह खुद ही एक बड़े महत्त्व की चीज़ होगी।

इसके बाद फिर क्या करना होगा, यह तो आप ही मालूम हो जायगा। मान लीजिए कि आजतक कोई बम्बई के किसी कल-कारखाने के बने टूथ-ब्रश से दाँत साफ़ करता आ रहा है, अब उसकी जगह गाँव का बना टूथ-ब्रश चाहता है; तो आप उसे बबूल या नीम की दतौन से दाँत साफ़ करने की सलाह दें। अगर उसके दाँत कमज़ोर हैं या दाँत हैं ही नहीं, तो वह दतौन का एक सिरा लोढ़ी या हथौड़ी से कुचल ले, और दूसरे सिरे को चीरकर उसकी फाँकों से वह जीभी का काम ले सकता है। दतौन का यह ब्रश उसे सस्ता भी काफ़ी पड़ेगा और कारख़ानों के बने हुए रोगोत्पादक ब्रशों से वह स्वच्छ भी अधिक होगा। शहरों के बने हुए दन्तमंजनों को तो वह छुएगा भी नहीं। वह तो लकड़ी के कोयले को ख़ूब महीन पीसकर और उसमें थोड़ा-सा साफ़ नमक मिलाकर अपने घर में ही बड़ा बढ़िया मंजन तैयार कर लेगा। मिल के बने कपड़े के बजाय वह गाँव की बुनी खादी पहनेगा, मिल के दले चावल की जगह हाथ के दले, बिना पालिश किये चावल का और सफ़ेद शक्कर के स्थान पर गाँव के बने गुड़ का वह उपयोग करेगा। इन चीज़ों को मैंने यहाँ बतौर नमूने के ही लिया है और इनकी चर्चा यद्यपि मैं 'हरिजन सेवक' में पहले कर चुका हूँ, तो भी इस विषय पर मेरे साथ जिन लोगों की लिखा-पढ़ी, या बात-चीत चल रही है, उनकी बताई हुई कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर मैंने पुनः खादी, चावल और गुड़ का यहाँ उल्लेख किया है। जैसे, कुछ-लोग चावल के विषय में कहते हैं, कि 'हाथ का दला चावल, मिल के चावल से बहुत महँगा पड़ता है।' फिर दूसरे लोगों का यह कहना है, कि 'हाथ की दलाई का हुनर लोग भूल-भाल गये हैं, न कहीं आज चक्कियाँ ही मिलती हैं, न दलनेवाले।'

एक तरफ तो यह शिकायत है, और दूसरी तरफ़ लोग यहाँतक कहते हैं, कि 'हमारे उधर तो मिल का दला चावल कभी दिखता भी नहीं। हाथ का दला चावल हम रुपये का १६ सेर तक दे सकते हैं।' ये सब कथन सही भी हैं और गलत भी। सही तो उस हद तक हैं, जहाँतक कि उनका अपने ज़िले के अनुभव से सम्बन्ध है। और इस दृष्टि से सारे कथन गलत हैं, कि वास्तविक सत्य का उन्हें पता नहीं। मुझे इस सिलसिले में नित्य ही आश्चर्यजनक अनुभव हासिल हो रहे हैं। ये सब अनुभव तभी प्राप्त होते हैं, जब मनुष्य किसी चीज़ का आरम्भ खुद ही कर देता है। अबतक चावल के सम्बन्ध में मैंने जो विचार या निरीक्षण किया है, उसका यह परिणाम आया है।

बाज़ार में ऐसा चावल दुर्लभ है, जिसपर ज़रा भी पॉलिश या चिलक न हो। पॉलिश का जिस चावल पर नाम-निशान भी नहीं होता वह देखने में भी सुन्दर होता है, और पौष्टिक तथा स्वादिष्ट भी होता है। इस चावल की बराबरी मिलें कभी नहीं कर सकतीं। चावल दलने का बड़ा सीधा-सादा तरीक़ा है। ज्यादातर धानें तो बिना किसी कठिनाई के हल्की-सी चक्कियों में दली जा सकती हैं। हाँ, कुछ ऐसी धानें हैं जिनकी भूसी दलने से अलग नहीं होती। ऐसी धान की भूसी निकालने का सब से अच्छा तरीक़ा तो यह है, कि पहले उसे हम थोड़ा उबाल लें, और फिर उसकी भूसी को अलग कर दें। कहते हैं, कि यह चावल अत्यधिक पौष्टिक होता है, और वह सस्ता तो होगा ही। गाँववाले अपनी धान अगर खुद ही दल लें, तो मिल के दले चावल से तो—फिर वह पॉलिशदार हो या बिना पालिश का—उनका चावल हर हालत में सस्ता पड़ेगा। बाजार में जो चावल बिकता है, वह ज़्यादातर न्यूनाधिक रूप में पालिशदार ही होता है—

फिर चाहे वह हाथचक्की का दला हुआ हो या मिल का। जिसपर ज़रा भी पालिश या चिलक न हो ऐसा चावल हाथ का ही दला हुआ होता है, और वह उसी जाति के मिल के दले चावल से काफ़ी सस्ता पड़ता है।

अभी पूरा-पूरा शोध तो हुआ नहीं, पर जहांतक और जितना शोध अभी हुआ है, उससे तो यही प्रकट होता है कि हमारी अपराध-पूर्ण लापरवाही के ही कारण चावल खानेवाले हमारे लाखों-करोड़ों भाई नित्य निःसत्व चावल खाते हैं और पैसे के साथ-साथ अपने स्वास्थ्य को भी ख़राब करते हैं। ग्राम-सेवक ख़ुद इसकी जाँच करके देखें कि यह शोध, यह निरीक्षण कहाँ तक सत्य है। ग्रामोद्योग-कार्य का यह आरम्भ, मेरी राय में बुरा नहीं है।

ह० से० २५-१-३५

## २

उस हफ्ते में मैंने चावल के सम्बन्ध में लिखा था। अब गेहूँ लेता हूँ। गेहूँ आहार में सबसे महत्त्व की नहीं तो दूसरे नम्बर की वस्तु तो ज़रूर है। पोषण की दृष्टि से देखें तो गेहूँ अन्नों का राजा है। विशुद्ध गेहूँ और विशुद्ध चावल की तुलना की जाय तो चावल से गेहूं ऊँचा ही उतरेगा। यह तो सभी डाक्टरों की राय है कि बिना चोकर का आटा उतना ही हानिकर है जितना कि पालिश किया हुआ चावल। बाज़ार में जो महीन आटा या मैदा बिकता है, उसके मुक़ाबिले में घर की चक्की का पिसा हुआ बिना चला गेहूँ का आटा अच्छा भी होता है और सस्ता भी। सस्ता इसलिए होता है कि पिसाई का पैसा बच जाता है। फिर घर के पिसे हुए आटे का

वज़न कम नहीं होता। महीन आटे या मैदे में तौल कम हो जाती है। गेहूँ का सबसे पौष्टिक अंश उसके चोकर में होता है। गेहूँ की भूसी चालकर निकाल डालने से उसके पौष्टिक तत्त्व की बहुत बड़ी हानि होती है। ग्राम-वासी या दूसरे लोग जो घर की चक्की का पिसा आटा बिना चला हुआ खाते हैं, वे पैसे के साथ-साथ अपना स्वास्थ्य भी नष्ट होने से बचा लेते हैं। आज आटे की मिलें, जो लाखों रुपये कमा रही हैं, उस रक़म का काफ़ी बड़ा हिस्सा गाँवों में हाथ की चक्कियाँ फिर से चलने लगने से गाँव में ही रहेगा और वह सत्पात्र गरीबों के बीच बंटता रहेगा।

पर इसके विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जाती है कि घर की चक्की में पीसना एक झंझट है, कभी तो आटा उसमें मोटा पिसता है कभी महीन, और गाँव के लोग खुद अपने हाथ से आटा पीसें यह बात उन्हें आर्थिक-दृष्टि से पुसाती नहीं। अगर पहले गाँववालों को अपने हाथ से पीसना पुसता था, तो आटे को मिलें खुल जाने से इसमें कोई फ़र्क तो पड़ना ही नहीं चाहिए। यह बात तो वे लोग कहीं नहीं सकते कि हमें इस काम के लिए समय नहीं। और जब परिश्रम के साथ बुद्धि का संयोग होगा, तब यह पूरी आशा है कि हाथ की चक्कियों में अवश्य ही सुधार होगा। भला, यह भी कोई दलील है कि हथ-चक्की में कभी तो आटा मोटा पिसता है और कभी बारीक? अगर चक्की में अच्छा बढ़िया आटा न पिसता होता तो अनादि काल से वह अपनी हस्ती कैसे क़ायम रख सकती? पर जब यह वहम हो कि हाथ की चक्की में मोटा-महीन आटा पिसा है, तब मैं यह राय दूँगा कि उस आटे को चलनी से चाल लो और चालने से जो मोटा रवा निकले उसका दलिया बनालो और उसे रोटी के साथ अथवा पीछे

खालो। अगर ऐसा किया गया तो पीसने की क्रिया अत्यन्त सरल और सुगम हो जायगी, और बहुत सारा समय और श्रम बच जायगा।

यह तमाम परिवर्तन करवाने के लिए ग्राम-सेवकों को स्वयं सीखकर तथा ग्रामवासियों को सिखाकर पहले से कुछ तैयारी तो करनी ही पड़ेगी। यह आशा नहीं करनी चाहिए कि इस काम में हमें शाबासी मिलेगी, पर अगर हमारी यह इच्छा हो कि हमारे ग्राम-वासी स्वस्थ और कुछ सुखी रहें तो यह काम हमें अवश्य करना चाहिए।

इसके बाद मैं गुड़ पर आपका ध्यान आकर्षित करूँगा। 'हरिजन-सेवक' में मैंने डाक्टरों के जो प्रमाण दिये हैं, उनसे यह प्रकट होता है, कि सफेद चीनी की अपेक्षा गुड़ अधिक पौष्टिक है; और अगर गाँववालों ने गुड़ बनाना बिलकुल ही छोड़ दिया, तो उनके बाल-बच्चों के आहार में से एक ज़रूरी चीज़ निकल जायगी। वे खुद शायद बिना गुड़ के अपना काम चला लेंगे, पर उनके बच्चों के शरीर को बिना गुड़ के ज़रूर ही हानि पहुँचेगी। बाज़ारू मिठाई और शक्कर की अपेक्षा गुड़ अधिक बढ़िया चीज़ है। अगर गुड़ बनना जारी रहा और लोगों ने उसका उपयोग करना न छोड़ा तो ग्राम-वासियों का करोड़ों रुपया उनकी गिरह में ही रहेगा।

मगर कुछ ग्राम-सेवक यह कहते हैं, कि गुड़ की क़ीमत से तो उसकी पदावार का ख़र्च भी नहीं निकलता। किसान को तो साहूकार का देना चुकाना है, इसलिए ऊख की खड़ी फसल बेचकर ही उसे पैसा मिल सकता है। ऊख का गुड़ बनावे और बेचे, तब कहीं पैसा हाथ में आयेगा; तबतक सिर पर चढ़ा हुआ साहूकार थोड़े ही धीरज रक्खेगा। इससे उलटा प्रमाण भी मेरे पास है। फिर भी यह दलील

उपेक्षणीय नहीं है। इसके लिए मेरे पास कोई तात्कालिक जवाब नहीं है। जिस जगह पर अमुक कच्चा-माल पैदा होता हो उसी जगह पर उस जगह का तैयार माल बेचने पर अगर मजूरी का भी पैसा न निकले तो वहाँ उस आर्थिक व्यवस्था में शुरू से ही कोई त्रुटि होगी। इस विषय की हर स्थान पर स्थानीय जाँच-पड़ताल होनी चाहिए। गाँवों के लोग जो जवाब दें उसे मानकर ग्राम-सेवकों को उपाय के सम्बन्ध में हताश नहीं होना चाहिए। गुड़ के विषय में जो अट-पटे प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं उन्हें हल कर सकने से ही राष्ट्र का उन्नति-साधन हो सकता है, और शहरों का गाँवों के साथ ऐक्य भी सिद्ध हो सकता है। हमें अपने मन में इतना निश्चय कर लेना चाहिए कि कि शहर के लोगों को पैसा अधिक भी देना पड़े तो भी गाँवों से गुड़ के उद्योग को नष्ट नहीं हो जाने देना चाहिए।

ह० से० ८-२-३५

## ३

आहार की कुछ ख़ास-ख़ास चीज़ों का ज़िक्र मैं कर चुका हूं और यह बतला चुका हूँ कि गाँववालों के स्वास्थ्य एवं सम्पत्ति में वे कितना महत्त्व रखती हैं। लेकिन, इसके साथ ही, सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा के प्रश्न भी उतना ही महत्त्व रखते हैं। अगर इनपर समुचित ध्यान दिया जाय, तो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से स्वास्थ्य, शक्ति और सम्पत्ति की वृद्धि होती है।

कुछ विदेशी लेखकों ने जाँच-पड़ताल करके बतलाया है, कि व्यक्तिगत सफाई के पालन में भूमण्डल के सब देशों में हिन्दुस्तान का नम्बर शायद सबसे पहला है। लेकिन मुझे भय है कि यही बात

हमारी सामूहिक—या दूसरे शब्दों में गाँवों की—स्वच्छता के बारे में नहीं कही जा सकती। अगर और दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो मैं कहूँगा कि इस दिशा में हम पारिवारिक हित से ज्यादा आगे नहीं बढ़े हैं। परिवार के लिए तो हम बड़ी-से-बड़ी चीज़ का भी बलिदान कर देंगे, लेकिन गाँव के, यानी एक अर्थ में राष्ट्र के लिए वैसा ही करने की तत्परता नहीं रक्खेंगे।

किसी कुटुम्ब के लोग अपने खुद के घर को तो साफ-सुथरा रक्खेंगे; लेकिन पड़ोसी के घर की सफाई में कोई दिलचस्पी नहीं लेंगे। वे अपने घर के आँगन को तो कूड़ा-कर्कट, कीड़े-मकोड़े और जीव-जन्तुओं से बचावेंगे, लेकिन इन सबको पड़ोसी के आँगन में फेंक देने में संकोच नहीं करेंगे। सामूहिक जिम्मेदारी के इस अभाव का नतीजा यह हुआ कि हमारे गाँव कूड़े के ढेर बने हुए हैं। हालाँकि हमारे देश में मुख्यतः नंगे पाँव चलने का रिवाज प्रचलित है, फिर भी हम लोग अपने बाज़ारों और सड़कों को इतना गन्दा रखते हैं, कि कोई भी समझदार व्यक्ति उनपर नंगे पाँव चलने में दुःख अनुभव किये बिना नहीं रहेगा। गाँव के कुओं, तालाबों और नदियों से साफ और पीने लायक़ पानी प्राप्त करना एक कठिन कार्य है। किसी साधारण गाँव में प्रवेश करने के मार्ग कचरे तथा गोबर से भरे पाये जाते हैं।

गाँवों की सफ़ाई का कार्य ही शायद अ० भा० ग्राम-उद्योग संघ के सामने सबसे कठिन कार्य है। बिना सर्वसाधारण जनता का हार्दिक सहयोग प्राप्त किये कोई भी सरकार जनता की आदतों को नहीं सुधार सकती। लेकिन अगर जनता का सहयोग प्राप्त होजाता है, तो फिर सरकार के करने के लिए बहुत थोड़ा कार्य बच रहता है।

अगर पढ़े-लिखे लोग, वैद्य, डाक्टर और विद्यार्थी लगन के साथ, बुद्धि तथा उत्साहपूर्वक और नियमित रूप से गाँवों में कार्य करने लग जायँ तो वे इस समस्या को सफलतापूर्वक हल कर सकते हैं। सम्पूर्ण शिक्षा की शुरूआत व्यक्तिगत और सामूहिक स्वास्थ्य-रक्षा का ख़याल रखने में है।

गाँवों में करने के कार्य यह है कि उनमें जहाँ-जहाँ कूड़े-कर्कट तथा गोबर के ढेर हों, वहाँ-वहाँ से उनको हटाया जाय और कुओं और तालावों की सफ़ाई की जाय। अगर कार्यकर्त्ता लोग नौकर रक्खे हुए भङ्गियों की भांति ख़ुद रोज़मर्रा सफ़ाई का कार्य करना शुरू कर दें और साथ ही गाँववालों को यह भी बतलाते रहें कि उन से सफ़ाई के कार्य में शरीक होने की आशा रक्खी जाती है, ताकि आगे चलकर अन्त में सारा काम गाँववाले स्वयं करने लग जायँ, तो यह निश्चय है, कि आगे या पीछे गाँववाले कार्य में सहयोग अवश्य देने लगेंगे। दक्षिण अफ़रीका, चम्पारन और यहाँतक कि उड़ीसा के पिछले वर्ष के जल्दी में किये हुए पैदल भ्रमण में मुझको तो कम-से-कम ऐसा ही अनुभव हुआ है।

वहाँ के बाज़ार तथा गलियों को, सब प्रकार का कूड़ा-कर्कट हटाकर, स्वच्छ बना लेना चाहिए। उस कूड़े का फिर वर्गीकरण कर देना चाहिए। उसमें से कुछ का तो खाद बनाया जा सकता है, कुछ को सिर्फ़ ज़मीन में गाड़ देना भर बस होगा, और कुछ हिस्सा ऐसा होगा कि जो सीधा सम्पत्ति के रूप में परिणत किया जा सकेगा। वहाँ मिली हुई प्रत्येक हड्डी एक बहुमूल्य कच्चा माल होगी, जिस से बहुत-सी उपयोगी चीज़ें बनाई जा सकेंगी या जिसे पीसकर क़ीमती खाद बनाया जा सकेगा। कपड़े के फटे-पुराने चिथड़ों तथा

रद्दी कागज़ों से कागज़ बनाये जा सकते हैं, और इधर-उधर से इकट्ठा किया हुआ मल-मूत्र गाँव के खेतों के लिए स्वर्णमय खाद का काम देगा। मल-मूत्र को उपयोगी बनाने के लिए यह करना चाहिए कि उसके साथ—चाहे वह सूखा हो चाहे तरल—मिट्टी मिलाकर उसे ज्यादा-से-ज्यादा एक फुट गहरा गड्ढा खोदकर ज़मीन में गाड़ दिया जाय। गाँवों की स्वास्थ्य-रक्षा पर लिखी हुई अपनी पुस्तक में डॉ० पूअर कहते हैं कि ज़मीन में मल-मूत्र को नौ या बारह इञ्चों से अधिक गहरा नहीं गाड़ना चाहिए। (मैं यह बात केवल स्मृति के आधार पर लिख रहा हूँ) उनकी मान्यता है कि ज़मीन की ऊपरी सतह सूक्ष्म जीवों से परिपूर्ण होती है और हवा एवं रोशनी की सहायता से—जो कि आसानी से वहाँतक पहुँच जाती हैं—यह जीव मल-मूत्र को एक हफ्ते के अन्दर-अन्दर एक अच्छी, मुलायम और सुगन्धित मिट्टी में बदल देते हैं। कोई भी ग्रामवासी स्वयं इस बात की सचाई का पता लगा सकता है। यह कार्य दो प्रकार से किया जा सकता है। या तो पाखाने बनाकर उनमें शौच जाने के लिए मिट्टी तथा लोहे की बाल्टियाँ रख दी जायँ और फिर प्रतिदिन उन बाल्टियों को पहले से तैयार की हुई ज़मीन में खाली करके ऊपर से मिट्टी डाल दी जाय। या फिर जमीन में चौरस गड्ढा खोदकर सीधा उसीमें मल-मूत्र का त्याग करके ऊपर से मिट्टी डाल दी जाय। यह मल-मूत्र या तो देहात के सामूहिक खेतों में गाड़ा जा सकता है, या व्यक्तिगत खेतों में। लेकिन यह कार्य सम्भव तभी है, जबकि गाँववाले सहयोग दें। कोई भी उद्योगी ग्रामवासी कम-से-कम इतना काम तो खुद भी कर ही सकता है कि मल-मूत्र को एकत्र करके उसको अपने लिए सम्पत्ति में परिवर्त्तित कर दे। आजकल तो यह सारा

क़ीमती खाद, जो लाखों रुपयों की क़ीमत का है, प्रतिदिन व्यर्थ जाता और बदले में हवा को गन्दा करता तथा बीमारियाँ फैलाता रहता है।

गाँवों के तालाबों से स्त्री और पुरुष सब स्नान करने, कपड़े धोने, पानी पीने तथा भोजन बनाने का काम लिया करते हैं। बहुत-से गाँवों के तालाब पशुओं के काम भी आते हैं। बहुधा उनमें भैंसें बैठी हुई पाई जाती हैं। आश्चर्य तो यह है कि तालाबों का इतना पापपूर्ण दुरुपयोग होते रहने पर भी महामारियों से गाँवों का नाश अबतक क्यों नहीं हो पाया है ? यह एक सार्वजनिक डाक्टरी प्रमाण है कि पानी की सफ़ाई के सम्बन्ध में गाँववालों की उपेक्षा-वृत्ति ही उनकी बहुत-सी बीमारियों का कारण है।

पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि इस प्रकार का सेवाकार्य शिक्षाप्रद होने के साथ-ही-साथ अलौकिक रूप से आनन्ददायक भी है और इसमें भारतवर्ष के संताप-पीड़ित जन-समाज का अनिर्वचनीय कल्याण समाया हुआ है। मुझको उम्मीद है कि इस समस्या को सुलझाने के तरीक़े का मैंने ऊपर जो वर्णन किया है, उससे इतना तो साफ़ होगया है कि अगर ऐसे उत्साही कार्यकर्त्ता मिल जायं, जो झाड़ू और फावड़े को भी उतने ही आराम और गर्व के साथ हाथ में ले लेवें जितना कि क़लम और पेंसिल को लेते हैं, तो इस कार्य में खर्च का तो कोई सवाल ही नहीं उठेगी। अगर किसी खर्च की ज़रूरत पड़ेगी भी तो वह केवल झाड़ू, फावड़ा, टोकरी, कुदाल और शायद कुछ कीटाणु-नाशक दवाइयाँ खरीदने तक ही सीमित रहेगी। सूखी राख सम्भवतः उतनी ही अच्छी कीटाणु-नाशक दवा है जितनी कि कोई रसायन-शास्त्री दे सकता है। लेकिन यहाँ तो

उदार रसायन-शास्त्री हमको यह बतलावें कि गाँव के लिए वह सबसे सस्ती और कीटाणु-नाशक चीज़ कौन-सी है, जिसे गाँववाले स्वयं अपने गाँवों में बना सकते हैं।

ह० से० १५-२-३५

: ११ :

# चमड़े का धन्धा

हमारे गाँव का चमड़े का धन्धा उतना ही प्राचीन है, जितना कि स्वयं भारतवर्ष। यह कोई नहीं बतला सकता कि चमड़ा कमाने का यह धन्धा कब अनावृत हुआ। प्राचीनकाल में तो यह बात हुई नहीं होगी। लेकिन हम जानते हैं, कि आज हमारे यहाँ के इस एक अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक उद्योग ने सम्भवतः दस लाख आदमियों को पुश्तैनी अछूत बना दिया है। वह कुदिन ही होगा, जिस दिन से इस अभागे देश में परिश्रम को लोग घृणा की दृष्टि से देखने लगे होंगे और इस प्रकार उसकी उपेक्षा कर दी होगी। लाखों-करोड़ों मनुष्य, जो दुनिया के हीर थे और जिनके उद्योग पर यह देश जी रहा था, वे तो नीच समझे जाने लगे, और ऊपर से बड़े दीखनेवाले थोड़े-से अहदी आदमियों का वर्ग समझा जाने लगा प्रतिष्ठित! इसका दुःखद परिणाम यह हुआ, कि भारत को नैतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार की भारी क्षति पहुँची। यह हिसाब लगाना असम्भव नहीं, तो कठिन ज़रूर है, कि इन दो में से कौन बड़ी हानि हुई। किन्तु किसानों और कारीगरों के प्रति की गई इस अपराध-पूर्ण लापरवाही ने हमें दरिद्र, मूढ़ और काहिल बनाकर ही छोड़ा। भारत के पास क्या साधन नहीं है? उसका सुन्दर जलवायु, उसके गगनचुम्बी पर्वत, उसकी विशाल नदियाँ और उसका विस्तृत समुद्र, ये सब ऐसे असीम साधन हैं, कि अगर इन सबका पूरा-पूरा उपयोग किया जाय, तो

इस स्वर्ण देश में दारिद्र्य और रोग आवें ही क्यों ? पर जब से हमने शारीरिक श्रम से बुद्धि का सम्बन्ध छुड़ाया, तब से हमारी क़ौम का, सब तरह से पतन होगया, दुनिया में आज हम सबसे अल्पजीवी, निपट साधन-हीन और अत्यन्त पराजित माने जाते हैं। चमड़े के देशी धन्धे की आज जो हालत है, शायद वह मेरे इस कथन का सबसे अच्छा सुबूत है। यह तो स्वर्गीय मधुसूदनदास ने मेरी आँखें खोलीं, नहीं तो मैं क्या जानता था, कि देश के लाखों मनुष्यों के साथ कितना बड़ा जुर्म किया गया है। मधुसूदनदासजी ने राष्ट्र के इस महान् पाप का प्रायश्चित्त एक ऐसा चर्मालय खोलकर किया, जिसमें चमड़ा कमाने का हुनर सिखाया जाता है। उनकी सब आशायें तो पूरी नहीं हुईं, पर कटक में सकड़ों जूते बनानेवालों को वे जीविका तो दे ही गये।

हिसाब लगाकर देखा गया है, कि नौ करोड़ रुपये का कच्चा चमड़ा हर साल हिन्दुस्तान से बाहर जाता है और वह सब-का-सब बनी-बनाई चीज़ों के रूप में फिर यहाँ वापस आ जाता है। यह देश का सिर्फ़ आर्थिक ही नहीं बौद्धिक शोषण भी है। चमड़ा कमाने और अपने नित्य के उपयोग में आनेवाली उसकी अनगिनती चीज़ों के बनाने की शिक्षा हमें आज कहाँ मिल रही है ? इस हुनर में काफ़ी वैज्ञानिक दिमाग़ चाहिए। हज़ारों रसायन-विशारद चाहें तो इस महान् उद्योग में अपनी आविष्कारिणी शक्ति का काफ़ी उपयोग कर सकते हैं। उसके विकसित करने के दो रास्ते हैं। एक तो यह है कि जो हरिजन गाँवों में रहते हैं, और गाँव की ख़ास बस्ती से दूर, समाज के संसर्ग से अलग, टूटे-फूटे गन्दे झोंपड़ों में पड़े सड़ रहे हैं, और बड़ी मुश्किल से बेचारे किसी तरह पेट पाल रहे हैं, उनकी

मदद करके उन्हें ऊँचा उठाया जाय। इसका यह भी अर्थ है, कि गाँवों के पुनर्संगठन में अर्थात् कला, शिक्षा, स्वच्छता, समृद्धि और प्रतिष्ठा की वहाँ पुनर्स्थापना करने में हमारे रसायन-विशारदों की बुद्धि का उपयोग हो। रसायन-शास्त्रियों को चाहिए कि वे चमड़ा कमाने की अच्छी-से-अच्छी वैज्ञानिक क्रियायें ढूँढ निकालें। गाँव के रसायन-शास्त्री को नम्रतापूर्वक इस कला पर अधिकार करना है। चमड़ा कमाने की अनघड़ कला गाँवों में अभी जीवित है, पर वह उत्तेजन न मिलने से ही नहीं, बल्कि दुर्लक्ष्य के कारण भी बड़ी तेज़ी से लुप्त होती जा रही है। उस कला को इन रसायन-शास्त्रियों को सीखना और समझना चाहिए। उस अनघड़ तरीक़े को यकायक नहीं छोड़ देना चाहिए, पहले कम-से-कम इसकी अच्छी तरह परीक्षा तो होनी ही चाहिए। इस पद्धति से सदियों तक बड़ी अच्छी तरह काम चला है। अगर उसमें कोई गुण न होता, तो उससे यह काम न चलता। जहाँतक मैं जानता हूँ, हमारे देश में एक शान्ति-निकेतन में ही इस विषय की कुछ खोज-बीन हो रही है। उसके बाद साबरमती-आश्रम में इस काम का आरम्भ किया गया। शान्ति-निकेतन का प्रयोग कितनी उन्नति कर गया है, इसका पता मैं नहीं लगा सका। साबरमती-आश्रम के स्थान पर अब जो हरिजन-आश्रम है, उसमें इस काम के फिर से आरम्भ करने की पूरी सम्भावना है। यह शोध-कार्य तो समुद्र के समान है; उसमें हमारे इन प्रयोगों को तो आप बिन्दु-मात्र ही समझें।

गोरक्षा हिन्दू-धर्म का एक अविभाज्य अंग है। कोई भी असल हरिजन खाने के लिए गाय-भैंस को नहीं मारेगा। किन्तु अस्पृश्य बनकर उसने मुर्दार मांस खाने की बुरी आदत सीख ली है। वह

गाय की हत्या तो नहीं करेगा, पर मरी हुई गाय का मांस बड़े ही स्वाद से खायगा। शारीरिक दृष्टि से यह मांस शायद हानिकार न हो, पर मानसिक दृष्टि से तो मुर्दार मांस खाने के जैसी सूग पैदा करने-वाली दूसरी चीज़ है ही नहीं। तो भी चमार के घर में जब मरी हुई गाय आती है, तब उसका सारा कुटुम्ब आनन्दोत्सव में फूला नहीं समाता। बालक तो लाश के चारों ओर नाचने लगते हैं। और जब उसकी खाल उधेड़ी जाती है, तब हड्डियों और मांस के लोथड़ों को एक-दूसरे पर फेंकते हैं। अपना घरबार त्यागकर हरिजन-आश्रम में जो एक चमार रहता है, उसने खुद अपने घर का ख़ाका खींचते हुए मुझसे कहा, कि मुर्दार जानवर को देखते ही चमार का सारा कुटुम्ब आनन्द-विह्वल होजाता है। मैं ही जानता हूँ, कि हरिजनों के बीच काम करते हुए उनसे मुर्दार मांस खाने की यह आत्मघातिनी कुटेव छुड़ाने में मुझे कितनी कठिनाई पड़ी है। पर चमड़ा कमाने की रीति में सुधार होजाय, तो मुर्दार मांस का यह रिवाज तो आप ही नष्ट हो जायगा।

इसमें भारी बुद्धि और चीर-फाड़ की कला की ज़रूरत है। गो-रक्षा की दिशा में भी इस काम के सहारे हम काफ़ी आगे बढ़ सकते हैं। अगर हमने गाय की दूध देने की शक्ति बढ़ाने की कला को न सीखा, उसकी सन्तति में हमने सुधार न किया और उसके बछड़े को खेती और गाड़ी खींचने के काम के लिए अधिक उपयोगी न बनाया, गाय के गोबर व मूत का खाद में उपयोग न किया, और गाय और उसके बछड़ों के मरने पर उनकी खाल, हड्डियों, मांस, अन्तड़ियों आदि का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करने को अगर हम तैयार न हुए, तो गाय को कसाई के हाथों तो मरना ही है।

अभी तो मैं सिर्फ़ मुर्दार लाशों की ही बात कर रहा हूँ। यहाँ हमें इतना भलीभाँति स्मरण रखना-चाहिए, कि ईश्वर की कृपा से गांवों में चमार को क़त्ल किये हुए ढोरों की नहीं, किन्तु केवल मौत से मरे हुए ढोरों की ही खाल उधेड़नी पड़ती है। उसके पास मरे हुए ढोर को अच्छी तरह उठा ले जाने का कोई साधन नहीं है। वह उसे उठाता है, घसीटता है, और इससे खाल ख़राब हो जाती है। कटे-फटे उतरे हुए चमड़े के दाम भी कम मिलते हैं। चमार जो अनमोल और सुन्दर समाज-सेवा करता है उसका अगर गांववालों और जनता को भान हो, तो वे लाश उठा ले जाने का कोई ऐसा आसान और सादा तरीक़ा ढूँढ निकालेंगे, जिससे चमड़े को ज़रा भी नुक़सान न पहुँचने पाय।

इसके बाद की क्रिया है ढोर की खाल उतारने की। इसमें भारी सुघड़ता की ज़रूरत है। मैंने सुना है, कि गाँव का चमार अपनी गाँव की बनी छुरी से इस चीर-फाड़ को जिस कुशलता से और जितनी जल्दी करता है, उस सुघड़ाई से और उतनी जल्दी कोई भी, बल्कि डाक्टर भी, नहीं कर सकता। इस विषय का जिन्हें ज्ञान होना चाहिए, उनसे मैंने इस सम्बन्ध में जब पूछ-ताछ की तो गाँव के चमार के चीर-फाड़ के ढंग से बेहतर तरीक़ा वे मुझे नहीं बता सके। पर इसका यह अर्थ नहीं कि इससे बढ़कर तरीक़ा कोई दूसरा है ही नहीं। मैं तो पाठकों को अपने अत्यन्त सीमित अनुभव का लाभ बता रहा हूँ। गाँव का चमार हड्डियों का कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता। हड्डियों को तो वह फेंक देता है। खाल उधेड़ते वक्त लाश के इर्द-गिर्द जो कुत्ते घूमते रहते हैं, वे सब नहीं, तो कुछ हड्डियों को तो उठा ही ले जाते हैं। कुत्तों की छीना-झपटी से बाक़ी जो बच रहती हैं,

विदेश को भेज दी जाती है, और वहाँ से मूठ, बटन वग़ैरा के रूप में वे यहीं फिर वापस आजाती हैं। इन हड्डियों का अगर अच्छा चूरा बना लिया जाय तो उसका बहुत बढ़िया खाद हो सकता है।

दूसरा रास्ता इस महान् उद्योग को शहर में ले आने का है। हिन्दुस्तान में चमड़े के कई कारख़ाने आज यह काम कर रहे हैं। उन सबकी परीक्षा करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। शहरों में इस उद्योग के ले आने से हरिजनों को शायद ही कोई फ़ायदा हो सके, गाँवों को तो कुछ भी लाभ पहुँचने का नहीं। इससे तो गाँव की दूनी बर्बादी ही होगी। भारत में उद्योग-धन्धों को शहर में ले आने और बड़े-बड़े कारख़ानों के द्वारा उन्हें चलाने का अर्थ है गाँवों और गाँवों की जनता को धीरे-धीरे पर अचूक रीति से मौत के मुँह में डाल देना। शहर के उद्योग भारत के सात लाख गाँवों में बसनेवाली उसकी ९० फ़ी सदी जन-संख्या को कभी सहारा नहीं दे सकते। गाँवों से चमड़े के धन्धे को तथा ऐसे ही दूसरे उद्योगों को हटा देने का तो यही अर्थ होगा, कि वहाँ हाथ और बुद्धि के कौशल को काम में लाने का जो थोड़ा-सा अवसर अभी किसी तरह बच रहा है, वह भी उनसे छीन लिया जाय। और जब गाँव के उद्योग-धन्धे नष्ट हो जायँगे, तब ढोरों को लेकर खेत में मजूरी करना और बरसात के छः या चार महीने आलस में बैठे-बैठे बिताना, बस इतना ही ग्रामवासियों के नसीब में रह जायगा। ऐसा हुआ, तब तो स्व० मधुसूदनदास के शब्दों में यही कहना चाहिए, कि गाँव के मनुष्य जानवरों जैसे ही हो जायँगे। न तो उन्हें मानसिक पोषण कहीं से मिलेगा, न शारीरिक। और इससे उनकी आशा और आनन्द भी नष्ट ही समझिए।

यहाँ सौ फ़ी सदी स्वदेशी-प्रेमी के लिए काम पड़ा हुआ है।

साथ ही एक बहुत बड़े सवाल के हल करने में जिस वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता है उसे काम में लाने का क्षेत्र भी मौजूद है। इस एक काम से तीन अर्थ सधते हैं। एक तो इससे हरिजनों की सेवा होती है, दूसरे ग्रामवासियों की सेवा होती है, और तीसरे मध्यमवर्ग के जो बुद्धिशाली लोग रोज़गार-धन्धे की खोज में बेकार फिरते हैं, उन्हें जीविका का एक प्रतिष्ठित साधन मिल जाता है। और यह लाभ तो जुदा ही है, कि गांव की जनता के सीधे संसर्ग में आने का भी उन्हें सुन्दर अवसर मिलता है।

ह० से० १८-९-३८

: १२ :

## यंत्र क्यों नहीं ?

एक बहिन, जो अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग-संघ स्थापित होने की बात सुनकर उत्साह में आगई थीं, मेरा प्रारम्भिक कार्य-क्रम विषयक लेख पढ़कर लिखती हैं:—

"ओखली-मूसल से चावल कूटने और हाथ की चक्की से अनाज पीसने के काम को पुनर्जीवित करने अथवा उसे उत्तेजन देने के विचार से ही मैं बिचक गई हूँ, और मेरे ग्राम-सेवा-सम्बन्धी सारे उत्साह पर पानी फिर गया है। ग्रामोन्नति की योजना में श्रम बचाने वाले यंत्रों से लाभ न उठाना तो मुझे समय और शक्ति का भयंकर अपव्यय ही मालूम देता है। गाँव के लोगों को और उनके साथ ग्राम-सेवकों को अगर ओखली और चक्की लेकर बैठना पड़ा तो उन्हें ग्राम-सुधार के काम के लिए शायद ही कुछ फुर्सत मिलेगी। यही फिर वही ओखली-चक्की का पुराना रोना आरम्भ किया गया, तो शुरू में तो जोश में आकर कुछ पुरुष इस काम को करेंगे, पर अन्त में इस सब कुटाई-पिसाई के काम का भार हम स्त्रियों पर ही आकर पड़ेगा, और हमने अबतक जो थोड़ी-बहुत अपनी प्रगति की है, उसे इस काम से धक्का पहुँचेगा।"

इस दलील के मूल में एक प्रकार का मिथ्या-हेतु अर्थात् भ्रम में डालनेवाला विचार है। यह तो यहाँ प्रश्न ही नहीं, कि मेहनत बचाने वाले यंत्रों से लाभ न उठाया जाय। गाँव के लोगों को अगर पेट-भर

अन्न और तन ढकने के लिए वस्त्र मिलते होते तो हाथ से कूटने-पीसने का कोई कारण ही न रहता—इस दलील में यह मान लिया है, कि स्वास्थ्य का प्रश्न कोई ऐसे महत्त्व का नहीं, अथवा हाथ के और मशीन के पिसे हुए आटे में और हाथ के और मशीन के कुटे हुए चावल में कुछ भी भेद नहीं है। असल में है इससे उलटा। मगर सवाल तो यह है कि गाँव के लोगों ने जब अपनी उचापत खर्च तक का भी कुटाई-पिसाई का काम छोड़ दिया तब वे निरुद्यमी बन गये। और उस बेकारी के समय का, अपनी उन्नति अथवा दूसरे किसी काम के लिए, उन्होंने कुछ भी सदुपयोग नहीं किया ! भूखों मरने-वाला पुरुष या स्त्री फ़ुर्सत के समय ईमानदारी से चार पैसे पैदा कर सके तो उसे पैदा करने में ज़रूर ख़ुशी होगी। जब वे अपना खाली पेट भरने के लिए दो-चार पैसे कमाने में अपना समय लगा रहे हों, उस समय उन्हें यह 'श्रम बचाने' की सलाह दी जाय, तो वह उन्हें ज़हर-सी लगेगी। इस बहिन का यह विचार ग़लत है, कि ग्राम-सेवक को गाँवों में कूटने-पीसने का काम करना पड़ेगा। हाँ, यह कला तो उसे ज़रूर सीख लेनी चाहिए, और ओखली, मूसल, चक्की या दूसरे औज़ारों की जानकारी उसे अवश्य होनी चाहिए, ताकि वह उन्हें सुधारने की सलाह लोगों को दे सके, और उनकी मर्यादा भी अच्छी तरह समझ सके। इस बहिन का यह ख़याल भी ग़लत है कि उत्साह की पहली बाढ़ में तो पुरुष कुटाई-पिसाई का यह काम अपनी राज़ी से करेंगे या उनसे करने को कहा जायगा, पर अन्त में तो यह भार हम अबलाओं के ही सिर पर आ पड़ेगा। सच बात यह है, कि कूटना-पीसना स्त्रियों का खास अधिकार था, और लाखों स्त्रियाँ इस प्रतिष्ठित तथा बल-बर्द्धक उद्योग के द्वारा स्वयं अपनी जीविका चलाती

थों। आज उन्हें मज़बूरन निरुद्यमी होकर रहना पड़ता है, क्योंकि उनमें से अधिकांश का उद्यम जो हमने छीन लिया है, उसके बदले में उन्हें फिर कोई दूसरा उद्यम नहीं मिला।

यह बहिन स्त्रियों की हुई 'थोड़ी-बहुत प्रगति' के सम्बन्ध में जब लिखती है, तब उसके ध्यान में सिर्फ़ शहरों की ही स्त्रियाँ आती हैं, क्योंकि ग्राम-जीवन को तो हमारे कार्यकर्त्ताओं ने अबतक छुआ भी नहीं। अधिकांश कार्यकर्त्ताओं को तो इतना भी ज्ञान नहीं कि इस विशाल देश के सात लाख गाँवों में लोग किस तरह रहते हैं। यह शायद ही हम जानते हों कि पौष्टिक आहार और आवश्यक वस्त्र न मिलने के कारण उन बेचारों का शरीर कैसा सत्वहीन होगया है। और हमें तो इसकी भी ख़बर नहीं, कि जो निःसत्व चावल और आटा आज उनका मुख्य आधार है, उन्हें खाकर वे और उनके बाल-बच्चे अपने बल और बची-खुची चैतन्यता को भी दिन-पर-दिन खोते चले जा रहे हैं।

कूटने-पीसने की ख़ातिर ही कूटने-पीसने की प्राचीन पद्धति को फिर से चलाने में मुझे कोई पक्षपात नहीं है। इस उद्योग को फिर से चलाने की मैं जो सलाह देता हूँ उसका कारण यह है कि जो लाखों-करोड़ों ग्राम-वासी निरुद्यमी होगये है, उन्हें काम-धन्धे में लगाने का कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं। मैं यह मानता हूँ, कि अगर हम आर्थिक संकट के इस दिन-दिन बढ़ते हुए भारी बोझ को दूर न कर सके तो गाँवों का उद्धार होना असम्भव है। इसलिए ग्राम-वासियों को उनके अकारथ में जाते हुए समय के सदुपयोग को सलाह देना ही ठोस ग्राम-सेवा है। इस पत्र लिखने वाली बहिन के और उसीके जैसे विचार की दूसरी बहिनों से मेरा यह निवेदन है, कि

वे कुछेक गाँवों में जायँ और वहाँ ग्राम-वासियों के साथ कुछ दिन रहें, व उन्हींकी तरह रहने का प्रयत्न करें। उन्होंने अगर ऐसा किया तो यह बात तुरन्त उनकी नज़र में आ जायगी कि मेरी दलील की नींव कितनी मज़बूत है।

ह० से० ७-१२-३४

: १३ :

# अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ क्या है ?

[ यू० पी० से आये हुए एक मुलाकात करनेवाले सज्जन ने २८ जनवरी १९३५ ई० को गांधीजी से जो बातचीत की, वह दैनिक पत्रों से यहाँ उद्धृत की गई है । प्रकाशित होने से पहले गांधीजी ने उसे देख लिया है । म० दे० ]

**प्रश्न**—आपके ख़याल से, ग्रामोद्योग संघ के काम की शुरुआत आप कबतक कर सकेंगे ।

गाँधीजी—काम की 'शुरुआत' से क्या मक़सद है, यह नहीं कहा जा सकता । लेकिन अगर इसके मानी यह हों कि ग्रामों में भिन्न-भिन्न कार्यकर्ताओं के ज़रिये अभीष्ट कार्य होने लग जाय, तो मैं उसकी ठीक-ठीक तारीख़ तय नहीं कर सकता, क्योंकि हम बहुत फूँक-फूँक कर पग धरते चल रहे हैं । 'फूँक-फूँक कर पग धरते चलने' का मतलब यह है कि हमारे लक्ष्य में जो कार्य है, उसके विविध स्वरूप होने के कारण, जहाँतक हम ग़लतियों से बच सकें, वहाँतक हम कोई ग़लती नहीं करना चाहते । यह काम तो अज्ञात महासागर में नाव खेने के समान है । अगले महीने की पहली तारीख़ को वर्धा में संघ के सेण्ट्रल बोर्ड की बैठक होने जा रही है, उसमें शायद कोई निश्चित कार्य योजना बने । इस बीच में हमने एक पल-भर भी गँवाया नहीं है । हम बहुमूल्य जानकारी जुटाते आ रहे हैं और सब तरफ़ से मदद देने के आश्वासन हमें मिल रहे हैं ।

**प्रश्न**—क्या आपका इरादा सब सूबों में एक साथ संघ की शाखायें खोल देने का है ? या आप चुनी हुई ख़ास-ख़ास जगहों ही में यह काम शुरू करना चाहते हैं ? संघ का मुख्य दफ्तर कहाँ होगा ? क्या आपके जाने के पहले यहां (दिल्ली में) उसकी शाखा खुल जायगी ?

गांधीजी—**हमारा मक़सद तो शाखायें न खोलकर हिन्दुस्तान-भर में कार्यकर्ता रखने का है। आदर्श यह होगा कि गाँव-गाँव में एक-एक कार्यकर्ता हो जाय ताकि काम का पूरे तौर पर बँटवारा हो जाय। इस प्रयास की सफलता की कुञ्जी तो अकेन्द्रीयकरण में है। मेरे जाने से पहले दिल्ली में कोई शाखा खुल जायेगी, यह मुझे मालूम नहीं। लेकिन जो कुछ इसके बारे में सूचनायें और समाचार मुझे मिल सकते हैं, मैं जुटा रहा हूँ। सेण्ट्रल बोर्ड ही आख़िरी फैसला करेगा। संघ का ख़ास दफ्तर वर्धा में है। वहाँ सेठ जमनालाल जी ने अपना बहुमूल्य बाग़ और उसमें बना हुआ विशाल बँगला दे दिया है। अगर आगे ज़रूरत पड़ी तो और भी ज़मीन लेने का अभिवचन दिया है।**

**प्रश्न**—जिन मृत या मृतप्राय उद्योगों को आप पुनर्जीवन दिलाना चाहते हैं, उनके बारे में तमाम ज़रूरी-ज़रूरी बातें जानने के लिए क्या संघ अपने ही आदमियों पर निर्भर रहेगा या उन सब दूसरी सरकारी या गैरसरकारी संस्थाओं से भी मदद मांगेगा, जो इस समय हिन्दुस्तान में काम कर रही हैं ?

गांधीजी—**संघ के सामने अङ्गीकृत कार्य तो इतना विशाल और विस्तृत है कि बाहरी मदद के बिना वह कुछ नहीं कर सकेगा; इसलिए दूसरे कार्यकर्ताओं का, चाहे वे सरकारी ही क्यों न हो, सहयोग भी वह चाहेगा, और लेगा।**

**प्रश्न**— आज जो दुनिया की मुख़्तलिफ़ आर्थिक और व्यापारिक ताक़तों की क्रियायें और प्रतिक्रियायें हिन्दुस्तान में होरही हैं, उनसे जिन उद्योगों के टकराने का अन्देशा नहीं है, क्या उन्हीं उद्योगों को नई ज़िन्दगी देना संघ का उद्देश्य होगा ? या इन बातों का ख़याल न रखकर वह तमाम नष्ट हुए उद्योगों को नवजीवन देने की कोशिश करेगा, और वह भी इसलिए कि पुराने ज़माने में जब वे उद्योग सम्पन्न स्थिति में थे, तब लाखों करोड़ों ग्रामवासियों का पेट भरता था ?

गांधीजी—**संघ तो उन सब उद्योगों को पुनर्जीवन और प्रोत्साहन देने की कोशिश करेगा, जिनका होना देहाती ज़िन्दगी के नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए लाज़मी है। ऐसी टकरानेवाली कही जानेवाली दुनियावी ताक़तों से डरकर वह पीछे नहीं हटेगा।**

**प्रश्न**—आम तौर पर लोग यह मानते हैं कि हिन्दुस्तान के सूती मिलों ने खादी-उद्योग को सहानुभूति की निगाह से नहीं देखा है। अगर संघ उन मृत, मृतप्राय या असंगठित उद्योगों को पुनर्जिवित--करने की कोशिश करेगा, जिनके ज्यादा असंगठित स्वदेशी उद्योगों के हितों से टकराने की सम्भावना है, तो क्या आपको यह अन्देशा नहीं है कि संघ का विरोध होगा ?

गांधीजी—**शक्कर, चावल और आटे की मिलों--जैसे यांत्रिक उद्योग संघ का विरोध करेंगे, ऐसी सम्भावना है। परन्तु हमारा काम मुश्किलों में से राह निकालने का है। मुझे पूरी-पूरी उम्मीद है कि हम ऐसी कठिनाइयों पर विजय पा सकेंगे।**

**प्रश्न**—मिसाल के लिए शक्कर और गुड़ की समस्या ही ले लीजिए। शक्कर एक रक्षित उद्योग है और अब तो वह सुसंगठित ढंग से चलता है। कुछ दिन पहले ऐसा छपा था कि संघ गुड़ की खपत बढ़ाने की

कोशिश करेगा। अगर यह सही है तो क्या आपके खयाल से इस चीज से शक्कर-उद्योगवालों का विरोध नहीं उठ खड़ा होगा ?

गांधीजी—हो सकता है। अगर गुड़ की खपत बढ़ गई और शक्कर की कम हो गई तो यह हिन्दुस्तान के लिए एक वरदान साबित होगा, क्योंकि डाक्टरों ने इस बात को साबित कर दिखाया है कि गुड़ में शक्कर से ज्यादा शरीर को पोशण देनेवाले तत्व हैं। और संघ का ही नहीं, जनता का भी यह फर्ज़ है कि वह किसी भी यांत्रिक उद्योग को लोगों के स्वास्थ्य का नुकसान तो न करने दे।

प्रश्न—संघ को मौजूदा बड़े-बड़े पैमानों पर चलनेवाले उद्योगों का क्रियात्मक विरोध करने के बदले उनका मददगार होना चाहिए या नहीं ? इस बारे में आपकी क्या राय है ?

गांधीजी—इसका जवाब तो मैं अभी दे ही चुका हूँ।

प्रश्न—क्या मेरा यह कहना ग़लत है कि आप जिस रूप में मृत उद्योगों का पुनर्जीवन करना चाहते हैं, वह लोभी पूँजीवाद के बजाय मानवता और विवेक के आधार पर हिन्दुस्तान के औद्योगीकरण की पहली सीढ़ी ही है ?

गांधीजी—मैं नहीं जानता कि हिन्दुस्तान जैसे विशाल मुल्क के लाखों-करोड़ों लोग जिन्हें बारह में से चार महीने मजबूरन बेकार रहना पड़ता है, इन बड़े पैमानों पर चलनेवाले व्यवसायों के रहते हुए भी कैसे थोड़ी-बहुत सुख-सुविधा की ज़िन्दगी बसर कर सकते हैं ? उन धन्धों को छोड़कर जो गाँव में नहीं चल सकते, बड़े-बड़े पैमानों पर चलनेवाले इन केन्द्रित उद्योगों के कारण लाखों-करोड़ों तबतक भूखों मरते ही रहेंगे, जबतक उन बेकारों के लिए कोई सम्मान की रोज़ी न मिल जाय।

प्रश्न—सरकार के ग्रामोद्योग संघ के कार्य के शुरु होने से पहले ही रोक देनेवाले सर्क्युलर के बारे में अख़बारों की जो राय है, अगर वह सच है, तो क्या आपके ख़याल से संघ का सरकार से संघर्ष छिड़ जाने का मौक़ा आ सकता है ?

गांधीजी—संघ का सरकार से संघर्ष होने की तो कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि संघ ने अपना जो आदर्श मुक़र्रर किया है, वह, अगर मैं ठीक-ठीक समझा हूँ तो, स्वास्थ्य के प्रश्न को छोड़कर सरकार के प्रयत्नों से भिन्न है। जिन गाँवों में स्वास्थ्य-सुधार और रक्षा का काम सरकार की तरफ़ से हो रहा है, वहाँ हमें वह काम हरगिज़ नहीं लेना चाहिए। सरकारी काम को उखाड़ फेंकने का तो बिल्कुल ही उद्देश्य नहीं है, हाँ, उसके काम में सहयोग देने का उद्देश्य हो सकता है।

प्रश्न—आपका इस बात की तरफ़ तो ध्यान गया ही होगा कि सरकार को यह अन्देशा हो रहा है कि इस संघ के ज़रिये आप गाँवों के अधिक सम्पर्क में आते ही रहेंगे और ऐसे अवसरों का उपयोग आप और भी बड़े-बड़े पैमाने पर 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' की दुबारा तैयारी करने में करेंगे।

गांधीजी—यह बात तो मेरे दिमाग़ में कभी आई ही नहीं। मैंने ऐसे अप्रत्यक्ष ढंग से कभी काम किया ही नहीं। इससे तो मेरी नज़र में जो मक़सद है, वही मारा जाता है। मैं तो गाँवों की भौतिक और नैतिक उन्नति मात्र ही चाहता हूँ और अगर वह हो जाती है तो मेरी आकांक्षा सब प्रकार पूरी हो जाती है। इसी तरह, अगर मुझे सविनय अवज्ञा-आन्दोलन चलाना ही है तो वह दूसरे कामों का सहारा लिये बिना ही चलाया जायगा। अगर "सविनय" शब्द को

हो पूरा-पूरा निभाना है, तो यह सब भ्रम दूर होजाना चाहिए। पर मुझे तो काफ़ी धीरज रहती है और मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि, अगर मैंने जो कुछ कहा है वह ठीक है तो, मेरे कुछ और कोशिश किये बिना ही ये सारे भ्रम दूर हो जायँगे।

**प्रश्न**—एक और सवाल करूँ ? आप ने कहा था कि अगर सरकार आपकी ग्रामोद्योग-योजना की भावना को ठीक-ठीक समझ जाय और आपको मदद देने की तैयार हो तो आप आश्चर्य करके दिखा सकते हैं। 'मदद' से आपका क्या प्रयोजन है ? क्या रुपये-पैसे की मदद से मतलब है ?

गांधीजी—मैं तो सिर्फ़ इतना भर कहता हूँ कि सरकार मेरी कार्य-प्रणालियों का रहस्य समझ जाय और जो कुछ काम मैं करूँ उसमें पूरा-पूरा सहयोग दे, तो आश्चर्य कर दिखाने का जिम्मा मेरा है। आर्थिक सहायता की मुझे दरकार नहीं। मैं तो सरकार की तरफ़ से अपने कार्य का पुरज़ोर नैतिक समर्थन-भर चाहता हूँ।

ह० से० ८-२-३५

: १४ :

# निराशा कैसी ?

भारत के शायद सबसे पुराने राष्ट्र-सेवक श्रीयुत हरदयाल नाग लिखते हैं :—

"यह देखकर मुझे निराशा मालूम देती है कि आपके इस अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग संघ का काम करने के लिए आपके पास पर्याप्त ग्राम-सेवक नहीं हैं। इस सम्बन्ध में अगर आप मुझ पर कर्त्तव्य की उपेक्षा करने का दोषारोपण करें तो अपना यह अपराध स्वीकार कर लेने के सिवा मेरे लिए दूसरा कोई रास्ता ही नहीं। अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ से ही मैं ग्राम-उद्योगों के प्रश्न के आर्थिक पहलू का अध्ययन करता रहा हूँ। आपका कार्यक्रम मुझे जो बहुत प्रोत्साहित नहीं करता, उसका यही कारण है, कि उसमें मुझे उसका कोई आर्थिक रूप नहीं दिखाई देता। कौन जाने यह मेरी ही भूल हो। खैर जो हो, मुझे अपनी शंकाओं को तो दूर करना ही है।

सारे हिन्दुस्तान के ग्राम-उद्योगों को हड़प लेनेवाला विदेशी व्यापार का यह शैतान तो अब भी यहाँ मौजूद है आर्थिक जाल में फँसानेवाली वह मोहनी माया तो आज भी उसी मस्ती में वही तान छेड़े जा रही है कि "सबसे सस्ता माल खरीदो" और उसके जादू का असर भी खूब पड़ रहा है। थोड़ी देर के लिए आप कल्पना कीजिए कि हिन्दुस्तान में तमाम सब जगह गाँवों का बना माल भरा पड़ा है, मगर उस माल के खपानेवाले या खरीदार नहीं हैं तो उससे लाभ ही

क्या ? हाथ का करघा खद्दर तैयार कर सकता है, पर वह उसके ख़रीदार थोड़े ही पैदा कर सकता है। मेरा तो यह दुःख-पूर्ण अनुभव है, कि बहुत-से कातनेवाले आपने हाथ के काते हुए सूत का एक भी वस्त्र नहीं पहनते। अधिकांश कतैयों या कत्तिनों के तन पर तो मैंने खद्दर भी नहीं देखा। सूत को बेचते हैं तो उससे उन्हें एक तरह से कुछ भी नहीं मिलता। कुछ लोग तो अपना सूत बेचने या बतौर चन्दे के देने के लिए भी राज़ी नहीं। ऐसे शौकीन कतैये आख़िर कितने दिन तक सूत कातते रहेंगे ? अब अगर भारत के तमाम ग्रामों के कारीगर, अपने ख़ुद के इस्तैमाल के लिए नहीं बल्कि बिक्री के लिए, अपने हाथ से चीज़ें बनानें लगें तो उनके उस सब माल के ख़रीदार कहाँ से आयेंगे ? जब तब भारत राजनीतिक ग़ुलामी से जकड़ा हुआ है, तब तक कोई दूसरा देश वह माल ख़रीदने का नहीं। और ये हिन्दुस्तान ग्राहक हिन्दुस्तानी के गाँव की बनी कुरूप चीज़ों को क्या ख़रीदेंगे ? गुड़ तैयार करनेवाला ज़रा-सा गुड़ अपने देश के प्रति मौखिक भक्ति दिखाने के लिए भले ही चख ले, पर क्या वह अपनी चाय या दूध में गुड़ की डली डालेगा ? गाँव का जूते के कारख़ानेवाला बाहर के बने हुए बढ़िया और काफी सस्ते जूतों के मुक़ाबिले में क्या कभी अपने कारख़ाने का बना भद्दा जूता-जोड़ा पहनेगा ? मैंने दुर्भाग्यवश ऐसे कई छोटे-मोटे देशी धन्धों को असफल होते हुए देखा है, जिनमें रुपये के लिए और केवल बिक्री के लिए माल तैयार होता था। सिर्फ रुपया पैदा करना ही जब उनका एक-मात्र ध्येय था, तब असफल तो उन्हें होना ही था। हमारे यहाँके ग्राम-वासियों को जब तक यह पाठ न पढ़ाया जायगा, कि जिन चीज़ों को वे अपने कच्चे माल से, और ख़ुद अपने हाथ-पैर की मेहनत से

तथा अपने ही इस्तैमाल के लिए तैयार करते हैं, उनके मुक़ाबिले में विलायती चीज़ें सस्ती पड़ ही नहीं सकतीं, तब तब वे विदेशी चीज़ों के खरीदने का मोह कभी छोड़ेंगे ही नहीं। विलायती माल खरीदने के लिए उन्हें क़र्ज़ काढ़ना पड़ता है, पर अगर अपने जीवन की ज़रूरी चीज़ें वे खुद बनाने लगें तो फिर उन्हें कर्ज़ लेने की कोई ज़रूरत ही न पड़े। जहाँतक ग्राम-वासियों का सम्बन्ध है, चीज़ों के अदल-बदल की सहकारी प्रथा इस मुद्रा-प्रथा से लाख दरजे अच्छी है। हमारे देश के ग्राम-वासियों को इस विदेशी व्यापार के शैतान ने इतना अधिक नीति-भ्रष्ट कर दिया है, कि सिवा रुपये-पैसे में ख़रीद-फरोख़्त करने के दूसरी बात वे सोच ही नहीं सकते।"

हरदयाल बाबू के ये दिन अब विश्राम करने के हैं, और अगर वे अब तमाम सार्वजनिक कार्यों से हट जायँ तो किसीको उनकी इस बात की शिकायत भी नहीं करनी चाहिए। मगर अपने इन तीनों होड़ियों—पण्डित मालवीयजी, अब्बास तैयबजी और विजय राघवाचार्य—की तरह हमारे हरदयाल बाबू का काम करने का हौसला कम नहीं हुआ। इसलिए वे यह आशा नहीं कर सकते कि आलोचक गण उनकी अवस्था के कारण उनके साथ कुछ रिआयत करेंगे। मैं जानता हूँ, वे ऐसी कोई आशा नहीं रखते। उनका शरीर और उनका मस्तिष्क देश के लिए अब भी वैसा ही बना हुआ है। उनमें कोई कमी नहीं आई है, और देश चाहे जब उनसे अपनी सेवा ले सकता है।

मुझे हरदयाल बाबू को यह बतला देना चाहिए कि जो लोग ग्राम-उद्योग के इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं, उनके सामने निराशा-जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। यह क्षेत्र इतना नया है कि तैयार होने में उसे

अभी बहुत समय लगेगा। कार्यकर्त्ताओं ने जो काम अपने हाथ में लिया है, उसकी तहतक वे अभी पहुँचे ही नहीं हैं।

फिर हरदयाल बाबू को जो निराशा की बात मालूम दे रही है, मेरी राय में उसका वही कारण है, जो उन्होंने ऊपर दिया है। कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा दिखाने का अपराध उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। अगर उन्होंने, जैसी कि उनकी प्रकृति है, यह काम हाथ में ले लिया होता, तो इसमें सन्देह नहीं कि वह उन्हें बहुत कठिन तो ज़रूर मालूम पड़ता, पर निराश तो वह निश्चय ही न होते। इस प्रवृत्ति का जो आर्थिक रूप उन्हें दिखाई नहीं दे रहा है, उसका यही कारण है कि उन्होंने उसे देखने के लिए व्यावहारिक रीति से प्रयत्न नहीं किया।

हरिजन-कार्य में मैं पड़ा तो मुझे यह पता लगा कि अगर भारतवर्ष को जीवित रहना है तो हमें क़ौमी निसेनी के सबसे निचले गोड़े को सबसे पहले ठीक करना होगा, अपने कार्य का श्रीगणेश यहींसे करना होगा। अगर पहली ही सीढ़ी सड़ी-गली हागी, तो सबसे ऊपर की या किसी बीच की सीढ़ी पर हम जो काम करेंगे, अन्त में यह सब निश्चय ही असफल होगा।

मुल्क के सामने आज जो कार्यक्रम रखा गया है, उसमें आर्थिक दृष्टि तो है ही, इसके अलावा कुछ और भी है। इस कार्यक्रम में राष्ट्र को पौष्टिक आहार देने का जिस ढंग का ख़ाका खींचा गया है, उससे अर्थ-लाभ भी होगा और आरोग्य-लाभ भी। गाँव के लोग अपना चावल ओखली में खुद कूटकर उसे ज्यों का त्यों चिलक रहित रूप में ही खाने लग जायँ, तो इससे हर साल तीस करोड़ रुपये की बचत ही न हो, बल्कि उनके स्वास्थ्य में भी उन्नति हो। पर दुःख की बात तो यह है, कि साधारणतया बाज़ारों में हमें ऐसा चिलकरहित पूर्ण

चावल मिलता ही नहीं। कुछ दिन ठहरने के बाद ही ग्राम-उद्योग-संघ राष्ट्र को इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट रास्ता दिखला सकता है। राष्ट्र को यह सब बताने की ज़रूरत है, कि क्या तो उसका भोजन हो और वह किस तरह तैयार किया जाय।

गाँवों में तड़क-भड़कदार चीज़ें बनाने और उन्हें बेमन-से ख़रीदने वालों के मत्थे मढ़ने की तो कोई बात इस कार्यक्रम में है ही नहीं। एक ही प्रकार की विदेशी या स्वदेशी चीज़ों के साथ जब प्रतिस्पर्धा की कोई बात ही नहीं, तब असफलता का तो सवाल ही नहीं आता। गाँवों के लोग खुद तैयार करेंगे और खुद ही ख़रीदेंगे। अपने बनाये माल को अव्वल तो वे खुद ही खपा लेंगे, क्योंकि नब्बे फ़ी सदी जन-संख्या ग्रामवासियों की ही है। शहरों के लिए तो वे उन्हीं चीज़ों को बनायेंगे, जिनकी शहरों में माँग होगी और जिन्हें वे लाभ की दृष्टि से तैयार कर सकेंगे। दूध या चाय में गुड़ मिलाने की सलाह लोगों को ज़रूर दी जायगी, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। उन्हें यह बतलाया जायगा—और आज भी बतलाया जा रहा है—कि यह ख़याल करना निरा वहम है, कि दूध या चाय के साथ गुड़ खाना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। एक सज्जन ने मुझे लिखा है कि मेरी स्त्री ने जब से गुड़ की चाय पीना शुरू किया है तब से क़ब्ज़ की उसकी सारी शिकायत दूर हो गई है। मुझे इसमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि गुड़ की जो थोड़ी रेचक तासीर है वह शक्कर में तो है ही नहीं। ग्रामों का शोषण मध्यमवर्ग के लोगों ने किया है। उनमें से कुछ लोग गाँवों को यह अनुभव कराके अब अपनी भूल को सँवार रहे हैं कि राष्ट्रीय विकास में गाँवों का एक गौरवमय और महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अब सफ़ाई का प्रश्न लीजिए। इस प्रश्न पर ठीक-ठीक ध्यान दिया जाय तो इससे हर साल मुल्क को प्रति मनुष्य दो रुपये की आमदनी हो सकती है। इसका यह अर्थ हुआ कि स्वास्थ्य और शक्ति में तो उन्नति होगी ही, इसके अलावा साठ करोड़ की सालाना आमदनी भी मुल्क को होगी। भारत के सात लाख गाँवों की डग-मगाती हुई नैया को अगर सब तरह से सम्भालना है तो इस काम को मौजूदा कार्यक्रम से आरम्भ करके ही हम कर सकते हैं। यह काम तो बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था। भारत की राजनीतिक अवस्था चाहे जैसी हो, इस काम को तो हमें पूरा करना ही है। भंगी से लेकर साहूकार तक सभी कोटि के ग्रामवासी इस कार्यक्रम को हाथ में ले सकते हैं। यह ऐसा काम है, जिसमें सभी विचारों के लोग दिलोजान से शरीक हो सकते हैं। अगर अच्छे कार्यकर्ता मिलते जायँ तो असफलता तो इसमें हो ही नहीं सकती।

ह० से० १२–४–३५

: १५ :

## भ्रान्तियाँ

घटनाओं और चीज़ों को ध्यान के साथ देखनेवाले एक सज्जन लिखते हैं :—

"आपके जिस पत्र का मैं जवाब दे रहा हूँ, उसमें बतलाई हुई दिशाओं में काम करने का काफ़ी बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है। गृह-उद्योगों के लिए तो क्षेत्र है ही। पर अगर साफ-साफ पूछा जाय तो मैं यह स्पष्ट कहूँगा कि मेरे ख़याल में ये गृह-उद्योग बड़े-बड़े उद्योगों का स्थान नहीं ले सकते। इन बड़े-बड़े उद्योगों के संचालकों के आर्थिक हितों को एक तरफ़ रख दें तो भी मेरा ख़याल यह है, कि इस प्रकार के जो बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हो चुके हैं या स्थापित हो सकते हैं, उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करना देश के हक़ में अच्छा नहीं होगा। यंत्रों के खिलाफ़ सबसे बड़ी आपत्ति यही उठाई जाती है कि काम-धन्धे में लगे हुए आदमियों का काम ये यन्त्र दिन-पर-दिन छीनते चले जा रहे हैं। नतीजा यह होता है कि बेकारी बढ़ती ही जाती है। मुनाफे के विभाजन की जो मौजूदा प्रणाली है, सम्भव है कि उसमें फेर-फार करने की ज़रूरत हो। पर फ़ुर्सत के समय का अगर सदु-पयोग हो सके, तो वह और बहुत-से कामों से अधिक महत्त्व का काम होगा। सिर्फ़ लोगों को भारी तादाद में काम में लगाने के लिए मेरे विचार में यह ज़रूरी नहीं कि हम उन यन्त्रों को खारिज कर दें, जिन पैसे से की बचत भी होती है और काम भी अच्छा और

अधिक मात्रा में होता है। होना यह चाहिए कि उन यन्त्रों से अनेक मनुष्य को फ़ुर्सत और अन्न मिले। इन 'अनेक मनुष्यों' में ऐसे लोगों को भी मैं शामिल कर लेता हूँ जिनका इस उद्योग के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं। भारत की जन-संख्या एक तो यों ही अधिक है, और वह बराबर बढ़ती ही जा रही है—यह देखते हुए मुझे यह डर है कि ऐसा समय तो शायद ही कभी आयगा जब यहाँ हरेक आदमी को ठीक-ठीक सुख-सुविधा दी जा सके। ज्यों-ज्यों लोगों में शिक्षा और स्वच्छता का प्रचार होगा, त्यों-त्यों उनकी आयु बढ़ेगी और मृत्यु-संख्या के परिमाण में कमी होती जायगी। जन-संख्या की दृष्टि से देखें तो स्थिति तब और भी बुरी हो जायगी। इसलिए माफ़ करें, मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि इस दिन-दिन बढ़ती हुई आबादी के रोकने का प्रयत्न करना ही हमारा सबसे पहला काम होना चाहिए, और यह काम बिना संतति-निग्रह के नहीं हो सकता। मैं यह जानता हूँ कि आप इस चीज़ के खिलाफ़ हैं। मगर आज चूंकि आप सफ़ाई, आहार-सुधार, ग्राम-उद्योग आदि के द्वारा आर्थिक पुनर्रचना पर ही अपना सारा ध्यान दे रहे हैं, इसलिए मैं आपसे यह देख लेने की प्रार्थना करता हूँ कि यह चीज़ भी आपके ध्यान देने की है या नहीं।"

जिन सज्जन ने यह पत्र लिखा है वे एक ईमानदारी से विचार करनेवाले व्यक्ति हैं, तो भी जैसा कि मुझे मालूम होता है, जिन दोनों संघों को लेकर उन्होंने लिखा है, उनके कार्य का सारा ध्येय ही वे नहीं समझ सके। बड़े-बड़े उद्योगों को हटाकर उनकी जगह ले लेना या उन्हें नष्ट कर डालना तो इन संघों का ध्येय है ही नहीं; उनका ध्येय तो यह है कि मृत या मृतप्राय उद्योगों को पुनरुज्जीवित किया जाय, और उनके द्वारा उन करोड़ों मनुष्यों के लिए काम तलाशा

जाय, जिन्हें ज़बरन पूरी तरह या आधी बेकारी में रहकर अध-पेटा रहना पड़ता है। यह विनाशात्मक नहीं, रचनात्मक कार्यक्रम है। ये बड़े-बड़े उद्योग करोड़ों बेकार मनुष्यों को तो कभी काम दे नहीं सकते, और उन्हें यह आशा भी नहीं है। उनका मुख्य ध्येय तो अपने चन्द मालिकों को रुपया पैदा करने का है, करोड़ों बेकार आदमियों को काम देना उनका ख़ास उद्देश्य कभी रहा ही नहीं। खादी और दूसरे ग्राम-उद्योगों के संचालक यह आशा तो करते नहीं कि निकट भविष्य में बड़े-बड़े उद्योगों पर कोई असर पड़ेगा। यह आशा वे अवश्य करते हैं कि ग्रामवासियों की अँधेरी कोठरियों में--जिन्हें झोंपड़ियाँ कहना भी भाषा का दुरुपयोग करना है—प्रकाश की एक किरण पहुँचाई जाय। पत्र-लेखक सज्जन जब यह कहते हैं, कि 'फ़ुर्सत के समय का अगर सदुपयोग हो सके, तो वह और बहुत-से कामों से अधिक महत्त्व का काम होगा,' तब ऐसा मालूम होता है, कि उनका सारा ही केस ख़त्म हो जाता है। जिन प्रवृत्तियों को वे स्वीकार नहीं करते, उन प्रवृत्तियों का उद्देश्य उस ध्येय को ही तो पूरा करना है, जो उनकी दृष्टि में है। आलस्य में पड़े हुए करोड़ों मनुष्यों के फ़ुर्सत के समय का सदुपयोग करना ही इन प्रवृत्तियों का ध्येय है।

इसमें यंत्रों के ग़लत उपयोग और दुरुपयोग के—अर्थात् करोड़ों को नुक़सान पहुंचानेवाले उपयोग के विरुद्ध ज़रा भी लड़ाई नहीं है। हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में फैले हुए ग्रामवासी रूपी करोड़ों जीवित यंत्रों के विरुद्ध इन जड़ यंत्रों को प्रतिद्वन्द्विता में नहीं लाना चाहिए। यंत्रों का सदुपयोग तो यह कहा जायगा कि उससे मनुष्य के प्रयत्न को सहारा मिले और उसे वह आसान बना दे। यंत्रों के

मौजूदा उपयोग का झुकाव तो इस ओर ही बढ़ता जा रहा है कि कुछ इने-गिने लोगों के हाथ में खूब सम्पत्ति पहुँचाई जाय, और जिन करोड़ों स्त्री-पुरुषों के मुँह से रोटी छीन ली जाती है, उन बेचारों की ज़रा भी पर्वा न की जाय। अत्यन्त सूक्ष्म मनोवृत्ति यों वाले मनुष्य-रूपी यंत्रों से काम न लेने की इच्छा से जड़यंत्रों के ज़रिये काम लेकर विपुल सम्पत्ति इकट्ठी करने की सनक ने जो घोर असन्तोष प्रज्वलित कर रखा है, उसे यथासम्भव शमन करने के ही विचार से चर्खा-संघ और ग्राम-उद्योग-संघ की रचना की गई है।

पत्र-लेखक को यह भय है कि ऐसा समय कभी नहीं आयगा कि जब हरेक मनुष्य को ठीक-ठीक सुख-सुविधा दी जा सके। जो लोग गाँवों में काम रहे हैं, उन्हें ऐसा कोई भय नहीं है। बल्कि बात इससे उल्टी है। गाँववालों के निकट-सम्पर्क में आने और गाँवों की स्थिति से अधिक परिचित होने से उनकी यह आशा बढ़ती ही जारही है कि अगर ग्रामवासियों से उनकी यह पुश्तैनी काहिली छुड़ाई जा सके तो वे सब-के-सब ठीक-ठीक सुख-सुविधा में रह सकते हैं, और इसके कारण देश की आर्थिक व्यवस्था में कोई बड़ी उथल-पुथल भी न हो। इसमें शक नहीं कि कुछ त्रासदायक स्थितियों का जुल्म तो कम करना ही पड़ेगा। पर अगर धनिक कहे जानेवाले वर्गों की ओर से कुछ सहयोग मिले तो इस जुल्म कम करने की क्रिया का असर भी प्रायः आंसेगा नहीं।

वर्त्तमान जन-संख्या के लिए ठीक-ठीक सुख-सुविधा की व्यवस्था करने के विषय में पत्र-लेखक को जो भय है, उससे स्वभावतः हद से ज़्यादा आबादी बढ़ जाने का भय उनके मन में पैदा हुआ है। इस दशा में तब सन्तति-निग्रह ही तर्क-संगत उपाय हो जाता है। मेरे

लिए सन्तति-निग्रह एक अन्ध-कूप है। अज्ञात शक्तियों के साथ खेलने-जैसी बात है। यह भी मान लिया जाय कि कृत्रिम उपायों के द्वारा कुछ स्थितियों में सन्तति-निग्रह करना उचित है, तो भी मुझे ऐसा भास होता है, कि करोड़ों मनुष्यों के लिए यह चीज़ बिलकुल ही अव्यवहार्य है। उन्हें गर्भाधान रोकने के उपायों से सन्तति-निग्रह की बात समझाने की अपेक्षा मुझे तो यह ज़्यादा आसान मालूम होता है, कि उन्हें संयम के साथ रहने की बात समझाई जाय। हमारा यह छोटा-सा पृथ्वी-मण्डल कुछ कल का बना हुआ खिलौना नहीं है। अनगिनते युगों से यह ऐसा ही चला आ रहा है। जन-संख्या की वृद्धि की मार से उसने कभी कष्ट का अनुभव नहीं किया। तब कुछ लोगों के मन में यकायक इस सत्य का उदय कहाँ से होगया कि यदि गर्भाधान रोकने के कृत्रिम उपायों से जनन-प्रमाण न रोका गया, तो अन्न न मिलने से पृथ्वी-मण्डल का नाश हो जायगा? मुझे यह भय है कि मेरे पत्र-लेखक मित्र एक भ्रान्ति से दूसरी भ्रान्ति में पड़ते गये हैं, और अन्त में एक ऐसे भारी पैमाने पर किये जानेवाले गर्भाधान-निरोध के दलदल में जा फंसे हैं, जो अभीतक एकदम अज्ञात है।

ह० से० २०-९-३५

: १६ :

# एक घातक विचार-धारा

एक सज्जन ने 'हरिजन' में चर्चा करने के लिए कुछ प्रश्न मुझसे पूछे थे। उनमें से एक मैंने कुछ दिनों से अपनी फाइल में रख रक्खा है :—

"क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि जबतक राजनैतिक सत्ता न हासिल करली जाय, तबतक कोई बड़ा सुधार नहीं हो सकता? हमें आज के आर्थिक ढाँचे में भी सुधार करना है। राजनैतिक पुनर्रचना के बग़ैर पुनर्निमाण होना नामुमकिन है और मुझे क्षमा कीजिए, यह कुटे और बिना कुटे चावल, संयत भोजन इत्यादि-इत्यादि की सब बातें महज़ ख़याली पुलाव ही है।"

कई कामों को न कर सकने के बहाने में लोगों को अक्सर मैंने यह दलील पेश करते सुना है। यह मैं मानता हूँ कि कुछेक चीज़ें ऐसी हैं जो बग़ैर राजनैतिक सत्ता हासिल किये नहीं हो सकती, मगर साथ ही ऐसी बेशुमार चीज़ें भी हैं जिनके लिए राजनैतिक सत्ता क़तई दरकार नहीं होती। तभी तो थारो जैसे विचारक ने कहा था—'वही सरकार सबसे अच्छी है जो कम-से-कम शासन करे।' इसके मानी यह हुए कि जब राजनैतिक सत्ता लोगों के हाथ में आ जाती है, तो लोक-स्वातन्त्र्य (अवाम की आज़ादी) पर नहीं के बराबर आघात होता है। या यों कहिए कि जो राष्ट्र सरकार के हस्तक्षेप के बिना ही अपने काम सुविधा और

सफलतापूर्वक चला लेता है, वही सच्चे अर्थों में जनसत्तात्मक है। जहाँ ऐसी स्थिति नहीं आ सके, वहाँ की सरकार नाम के ही लिए जनसत्तात्मक है।

ख़यालों की आज़ादी पर निश्चय ही कोई बन्धन या मर्यादा नहीं लगाई जा सकती। याद रहे कि आजकल बहुत से सुधारकों का नवीन विचार धारा पर सबसे अधिक आग्रह होरहा है। हममें से कितने ऐसे हैं जो अपने व्यक्तिगत विचारों में सुधार करने-कराने का उद्देश्य लेकर चलते हैं। आज के वैज्ञानिक विचारों की क्षमता को पहचानते हैं और इसी कारण तो यह कहा जाता है कि इन्सान जैसा सोचता है, वैसा ही वह बन जाता है। जो उठते-बैठते हत्या की बात सोचता है, वह हत्याकारी बन निकलेगा, जो हरदम व्यभिचार की सोचा करता वह पक्का व्यभिचारी बन जायगा। इसके ठीक उल्टे, जो दिन-रात सत्य और अहिंसा के विचारों में रहता है सत्य-साधक और अहिंसावादी बन जायगा और वह जो परमात्मा के चिन्तन में लीन रहता है, दिव्य बन जायगा। विचारों की इस दुनिया में सयासी ताक़त की कोई गुज़र ही नहीं है। इसी तरह यह भी साफ़ है कि हमारे बहुत से कामों पर राजनैतिक सत्ता का होना-न होना कोई असर नहीं डालता। जिन भाई ने मुझसे प्रश्न पूछा है, उन्हें मैं एक विनीत सलाह देना चाहता हूँ। वे अपने रोज़मर्रा के कामों का एक मुफ़स्सिल तौर पर निरीक्षण करें तो उन्हें यक़ीनन पता लग जायगा कि उनमें से कितने ही किसी राजनैतिक सत्ता के बग़ैर ही हो जाया करते हैं। अपने परावलम्बन के लिए इन्सान खुद ही ज़िम्मेदार है, वह जब भी चाहे तभी खुद-ब-खुद काम कर सकता है।

उक्त महाशय ने 'बड़े' सुधार को पहले तो हौआ समझ लिया है,

फिर उससे कतराते है। जो छोटे-छोटे सुधारों के लिए तैयार नहीं, वह बड़े सुधारों के लिए क्या तैयार होगा? जो अपनी शक्तियों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करता है, वह उनका विकास करता जायगा और उसे पता लग जायगा कि जिसे वह बड़ा सुधार समझे बैठा था, वह दरअसल कुछ भी नहीं था। जो अपनी ज़िन्दगी को इस दिशा में नियन्त्रित करता है, उसे सच्चे अर्थों में कुदरती ज़िन्दगी बना लेगा। इस बात को समझने के लिए हमें राजनैतिक ध्येय को भूल जाना होगा। हरेक मामले में और क़दम-क़दम पर सयासी मक़-सद का ख़याल करके चलना फ़िजूल का तूल देना है। क्योंकि जो बात होकर रहेगी उसके बारे में फ़िजूल चिन्ता ही क्यों की जाय? मौत आने के पहले ही क्यों मर जायँ?

यही सबब है कि मैं भोजन के पोषण-तत्त्वों की, पत्तेदार भाजियों की और बिना कुटे चावल की चर्चा करने में ज्यादा ही ज्यादा दिल-चस्पी लेता हूँ। यही कारण है कि इसका पता लगाने में कि हम अपनी टट्टियों को अच्छा-से-अच्छा कैसे साफ़ करें और रोज़ सवेरे धरतीमाता को अपवित्र करने के भीषण पाप से लोगों को कैसे बचाया जावे, मुझे अज़हद दिलचस्पी होने लगी है। मेरी समझ में यह बिल्कुल नहीं आता कि इन ज़रूरी मसलों पर ग़ौर करके उनका हल ढूँढ निकालने का तो कोई राजनैतिक महत्त्व नहीं है, मगर सरकार की आर्थिक नीति की जाँच करना लाज़िमी तौर पर राजनैतिक अर्थ रखती है। जो चीज़ मेरे दिमाग़ में स्पष्ट है वह यह है कि जहाँ वह काम जो मैं कर रहा हूँ और करने के लिए लोगों से कहता हूँ, ऐसा है जिसे लाखों कर सकते हैं, वहाँ हमारे शासकों की नीति का विश्लेषण करना उनके बस की बात नहीं है। यह इने-गिने लोगों का

ही काम है, यह मैं निर्विवाद रूप से मानता हूँ। जो लोग ऐसा करने में कुशल हैं, इसे अच्छे-से-अच्छे ढंग से करें, मगर जबतक ये नेता लोग बड़ी क्रान्तियाँ लावें, तबतक मेरे जैसे ये लाखों-करोड़ों लोग ईश्वर की इन देनों का अपने हित में अच्छे-से-अच्छा उपयोग क्यों न करें ? ये अपने जिस्मों को सेवा करने के योग्य क्यों न बनालें ? क्यों न वे लोग अपने-अपने घरों की, व अपने पड़ौस की, धूल-मिट्टी को खुद ही साफ़ कर डालें ? क्यों वे दिन-रात रोगों के पंजे में फँसे रहकर अपनी और दूसरे की मदद करने के नाक़ाबिल बने रहें ?

नहीं, मुझे कहना चाहिए कि इस प्रश्न से उक्त महाशय की अकर्मण्यता, निराशा और उत्साहहीनता, जो हममें से बहुतों में है, जाहिर होती है। मैं पूरे विश्वास के साथ यह दावा कर सकता हूँ कि आज़ादी की लगन में मैं किसीके पीछे नहीं हूँ। मुझे कभी थकावट या निराशा नहीं हुई। बरसों के तजुर्बे के बाद मुझे यह यक़ीन हो गया कि मेरी शक्तियाँ और मेरा ध्यान जिन कामों में लग रहा है, वे राष्ट्र को स्वाधीनता की दिशा में ले जानेवाले गिने जाते हैं और उसमें अहिंसात्मक आज़ादी का रहस्य छिपा है। यही कारण है कि मैं हर स्त्री-पुरुष, बूढ़े और जवान को इस यज्ञ में अपना-अपना हिस्सा बैठाने को आमन्त्रण करता हूँ।

ह० से० १४-१-३६

: १७ :

# 'हिन्दुस्तानी' उद्योग

अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि हिन्दुस्तानी उद्योग से क्या मतलब है? यह प्रश्न आमतौर पर हमारी स्वदेशी नुमाइशों के सम्बन्ध में पूछा जाता है। आगे यह दावा किया जाता था कि हिन्दुस्तान में चलनेवाले किसी भी उद्योग को हम हिन्दुस्तानी उद्योग कह सकते हैं, इसलिए ऐसा उद्योग भी हिंदुस्तानी ही समझा जाता था, जो हिंदुस्तान में अस्थायी तौरपर बसे हुए यूरोपियनों द्वारा चलाया हुआ होता था—जिस उद्योग को कि यूरोपियन लोग विदेश से पूँजी, कुशल इंजीनियर तथा कारीगर और मशीनें लाकर यहाँ चलाते थे। और वह साबित होजाने पर भी कि देश की आम जनता के लिए वह हानिकारक है, उसे हिन्दुस्तानी उद्योग ही मानते थे। इस व्याख्या से हम अब बहुत आगे बढ़ गये हैं। किसी भी उद्योग को हिन्दुस्तानी तभी कहा जासकता है जबकि यह सिद्ध हो जाय कि वह जन-समुदाय के लिए हितकारी है और उसमें काम करनेवाले कुशल कारीगर व मज़दूर दोनों ही हिन्दुस्तानी हैं। उसकी पूंजी और यंत्र भी हिन्दुस्तानी होने चाहिएँ और उस उद्योग में जो मज़दूर काम करते हों उन्हें उससे पेट भरनेलायक़ रोज़ी मिलनी चाहिए, उनके रहने के लिए साफ़-सुथरे और सुभीतेवाले मकान होने चाहिएँ, और मजदूरों के बच्चों के लिए भी मिल-मालिकों को पर्याप्त सुविधा कर देनी चाहिए। यह हिन्दुस्तानी उद्योग की आदर्श व्याख्या है। सिर्फ़ चरखा-संघ और

ग्राम-उद्योग-संघ ही शायद इस व्याख्या को कुछ सन्तोष दे सकते हैं। क्योंकि इन संघों की भी इस दिशा में अभी काफ़ी लम्बी मंजिल तय करनी है। फिर भी इस व्याख्या का सौ फ़ीसदी अनुसरण करना इन संघों का तात्कालिक ध्येय है।

पर इस व्याख्या के, और कांग्रेस में भी सन् १९२० के पहले जो व्याख्या प्रचलित थी, उसके बीच में दूसरी कई व्याख्याओं का समावेश होजाता है। मिल के कपड़े के अलावा हिन्दुस्तान में बनी हुई सब चीज़ें कांग्रेस द्वारा की हुई स्वदेशी की व्याख्या में साधारणतया आजाती हैं। आमतौर पर यह दावा किया जा सकता है सही कि बड़ा मिल-उद्योग हिन्दुस्तानी उद्योग है। पर जापान और लंकाशायर के साथ टक्कर लेने की शक्ति होते हुए भी यह उद्योग जितने अंशों में खादी के ऊपर विजय प्राप्त करता है, उतने ही अंशों में जन-साधारण का शोषण करता और उसकी दरिद्रता को बढ़ाता है। सारे देश में भारी-भारी यांत्रिक उद्योग खड़े कर देने की इस ज़माने की धुन में मेरे इस विचार को यद्यपि बिल्कुल ठुकरा नहीं दिया गया है, तो भी इसके विषय में कुछ लोगों ने शङ्का तो उठाई ही है। इसके विरोध में यह कहा गया है कि यांत्रिक उद्योगों की प्रगति के कारण जनसाधारण की दरिद्रता बढ़ती जाती है, यह चीज अनिवार्य है, और इसलिए इसको सहन करना ही चाहिए। इस अनिष्ट का सहन करना तो दूर, मैं तो यह भी नहीं मानता कि यह अनिवार्य है। अखिल भारत चरखा-संघ ने सफलतापूर्वक यह बता दिया है कि लोगों के फ़ुर्सत के समय का उपयोग अगर कातने और उसके पूर्व की क्रियाओं में किया जाय, तो इतने ही से गाँवों में हिन्दुस्तान की ज़रूरत के लायक़ कपड़ा पैदा हो सकता है। कठिनाई तो जनता से

मिल का कपड़ा छुड़वाने में है। यह कैसे हो सकता है, इसकी चर्चा करने का यह स्थल नहीं। करोड़ों ग्रामवासियों को ध्यान में रखकर मैंने हिन्दुस्तानी उद्योग की जो व्याख्या की है, उसको और उस व्याख्या के लिए अपने कारणों को उपस्थित करने का इस लेख में मेरा हेतु था। और इतना तो सभी को स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रीय नुमाइशें ऐसे ही उद्योगों के लिए होती हैं, जिनको कि हर तरह से जनता के समर्थन की ज़रूरत होती है; जो उद्योग बग़ैर किसी प्रदर्शिनी वग़ैरा की सहायता के ही खूब तरक्क़ी कर रहे हों, और जो खुद ही अपनी प्रदर्शिनी का आयोजन कर लेते हों, उनके लिए राष्ट्रीय संस्थाओं को किसी प्रदर्शिनी का आयोजन करने की आवश्यकता नहीं।

ह० से० ३०-१०-३७

: १८ :

# ग्राम-सेवा

[ उपवास के पश्चात्, शय्या पर पड़े-पड़े भी गांधीजी ने महत्त्वपूर्ण कार्यों में ध्यान देना आरम्भ कर दिया है। गुजरात-विद्यापीठ के कुछ कार्यकर्ता विद्यापीठ के भावी कार्यक्रम के विषय में बात करने के लिए अभी वर्धा आये थे। चूँकि उस बातचीत का ग्राम-सेवा तथा हरिजन-कार्य के साथ काफ़ी निकट सम्बन्ध था, इसलिए थोड़े में उसका सार मैं यहाँ देता हूँ।—म० दे० ]

## जङ्गम विद्यापीठ

शुरू से ही मैं यह मानता और कहता आया हूँ, कि विद्यापीठ का सच्चा काम तो गाँवों में है। पर आजतक हम लोगों ने यह काम इस कल्पना के आधार पर ही चलाया, कि वह किसी केन्द्रीय संस्था के द्वारा चलाया जा सकता है। आज मैं एक क़दम और आगे बढ़ने के लिए कहता हूँ—और वह यह कि हमारा विद्यापीठ अब गाँवों में जा बसे। यहाँ हमें यह विचार करना है, कि गाँवों में विद्यापीठ के जा बसने से मेरा क्या अभिप्राय है?

सत्याग्रहाश्रम को जो बाह्यरूप से हमने तोड़ दिया है, उसका यह अर्थ नहीं होता कि आश्रम का असली रूप भी तोड़ दिया गया है। आश्रमवासी जहाँ-कहीं भी आश्रम के आदर्शों के अनुसार आचरण करके रहें, वहीं आश्रम है।

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि आश्रम का अब एक

व्यापक-स्वरूप हो गया है। जीवित संस्था का तो यह उद्देश्य होना चाहिए, कि उसमें जो व्यक्ति तैयार हों, वे सब उस संस्था को अपने जीवन-क्षेत्र में प्रत्यक्ष उतार कर दिखा दें।

ऐसे जब बहुत-से व्यक्ति तैयार हो जायँ तब संस्था का मूल रूप न भी रहे, तो कुछ हानि होने की सम्भावना नहीं।

इस प्रकार विद्यापीठ का प्रत्येक सेवक, जिसने विद्यापीठ के आदर्शों की दीक्षा ले ली हो, विद्यापीठ की आजीवन सेवा करने की प्रतीज्ञा कर ली हो, और जिसने 'सा विद्या या विमुक्तये' का रहस्य कम-से-कम अर्थ से लेकर गहरे-से-गहरे अर्थ तक ठीक-ठीक समझ लिया हो, वह स्वयं ही जङ्गम अर्थात् चलता-फिरता विद्यापीठ बनकर किसी गाँव में चला जायगा। वहाँ वह विद्यापीठ के आदर्शों का परिपालन करेगा और लोगों को समझाने-बुझाने का जतन भी।

यह सचमुच सम्भव है, कि इस तरह गाँव में बहुत-से सेवक जाकर बस जायँ और वहाँ का अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् एक पथ-प्रदर्शक केन्द्रीय संस्था बना लें। पर हमारा विद्यापीठ इस प्रकार की संस्था नहीं है, उसका गाँव का अनुभव तो न होने के जैसा ही है।

## मध्य-बिन्दु चर्खा

ऐसे ग्राम-सेवक का मध्य-बिन्दु 'चर्खा' होगा। चर्खे के सन्देश का आशय मैं अभीतक जैसा चाहिए वैसा पूरा-पूरा समझा नहीं सकता था, क्योंकि उसका आकलन मुझे स्वयं ही स्पष्ट नहीं हुआ था। किन्तु इस नौ महीने के दौरे में, मैंने जो निरीक्षण और चिन्तन किया उससे—खासकर दक्षिण भारत के प्रवास में—मुझे वह 'दीपक

वत्' स्पष्ट हो गया। यह चिन्तन मैं करता ही रहता हूँ, कि गाँवों में व्यापक और सहायक उद्योग के रूप में तथा दरिद्रता-विदारक साधन के रूप में चर्खा किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। अभी तो इस रीति से चर्खे की ठीक-ठीक साधना हुई ही नहीं। गाँवों के जुलाहे चर्खे से ही ज़िन्दा रह सकते हैं, मिल-मशीनों के कते सूत से कभी नहीं, यह बात भी अभी पूरी-पूरी समझ में नहीं आई। आज चर्खे की स्थापना इतनी ही हुई है, कि शुद्ध रूप से केवल खादी ही काम में लानेवालों का जो एक वर्ग देश में तैयार हो गया है, उसकी कपड़े की आवश्यकता पूरी करने तक ही गाँव के कुछ आदमियों के लिए यह एक साधारण-सा उद्योग रह जायगा। लेकिन ऐसे छोटे-से काम के लिए चर्खा-संघ जैसी विशाल संस्था के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं। खादी के मूल में मेरी जो कल्पना है, वह तो यह है कि खादी हमारे किसानों के लिए 'अन्नपूर्णा' का काम करने वाली है, हज़ारों-लाखों हरिजन बुनकरों की प्राण-शक्ति है। कम-से-कम चार मास तो किसान निरुद्यमी रहता ही है। खादी उसे उद्यम देती है। हमारे देश में न तो आज उद्यम है, न स्वावलम्बन। यहाँ तो आलस्य ने बड़ी गहरी जड़ जमा ली है। उद्योग और स्वावलम्बन को देश में यदि पुनः लौटा लाना है, तो यह केवल चर्खे के द्वारा ही सम्भव है।

## चर्खे में साम्यवाद

इस देश में यदि हमें रक्त की नदी नहीं बहानी है, लोगों में आज से भी अधिक 'पशुता' नहीं लानी है, तो खादी के इस व्यापक सन्देश को देश की नस-नस में भर देना चाहिए। साम्यवाद के नाम से जो

चीज़ आज सुनाई दे रही है, वह हमारा साम्यवाद नहीं है। भारतवर्ष जिस साम्यवाद को पचा सकता है, वह साम्यवाद तो चर्खे की गूंज में गूंज रहा है। लोगों को चर्खे का इतना व्यापक सन्देश सुना देने का काम मेरा और चर्खा-संघ का था। किन्तु खादी की प्रवृत्ति जिस रीति से आजतक चलती आ रही है, उसी रीति से उसे हम चलाते रहे तो वह कोई व्यापक चीज़ सिद्ध न होगी, यह इस यात्रा में मुझे स्पष्ट हो गया है। इस सन्देश को समझाने और उसे सजीव रूप देने का प्रधान कार्य हमारे ग्राम-सेवक का ही होना चाहिए।

ग्राम-सेवक गाँव में जाकर स्वयं नियमपूर्वक चर्खा चलायेगा—और सिर्फ सूत ही नहीं कातेगा, बल्कि अपनी जीविका के लिए बसूला या हथौड़ा चलायगा, कुदाली और फावड़ा चलायगा, या हाथ-पैर से जो भी मजूरी कर सके, करेगा। खाने-पीने और सोने के आठ घण्टे बाद देकर बाक़ी का सारा समय किसी-न-किसी काम-काज में उसका लगा ही रहेगा। अपना एक मिनट भी वह बेकार न जाने देगा। काहिली को न तो वह अपने पास फटकने देगा, न दूसरों के। लोगों को वह यह बतलाता रहेगा कि मुझे तो यज्ञ करना है, शरीर का पालन-पोषण शारीरिक श्रम से ही करना है। मन के पोषण के लिए मानसिक शिक्षा-संस्कृति आवश्यक है। शारीरिक काम में भले ही श्रम-विभाग हो, किन्तु यह उचित नहीं, कि एक वर्ग तो शारीरिक श्रम किया करे, और दूसरा महज़ मानसिक श्रम।

अपने इस नौ महीने के प्रवास में मैंने देखा कि हमारे देश से अगर यह आलस्य बिदा न हुआ, तो कितनी ही सुविधायें क्यों न मिलें, लोग भूखे ही रहेंगे। जो अन्न के दो दाने खाता है, उसे चार दाने उपजाने का धर्म स्वीकार करना ही चाहिए। ऐसा अगर हो

जाय तो दूसरे करोड़ों मनुष्य भी हिन्दुस्तान में पलने लगें। और यह न हुआ, तो जन-संख्या चाहे कितनी ही कम हो जाय, भुखमरा वर्ग तो देश में बना ही रहेगा। इस प्रकार जिन सेवकों ने ग्राम-सेवा के इस कार्य में रस लिया है, वे गाँवों में जायँगे तो शिक्षक के रूप में, पर वहाँ खुद सीखनेवाले बन कर रहेंगे, नित्य नूतन शोध और साधना करते रहेंगे। मेरी कल्पना यह नहीं है, कि वे १६ घण्टे खादी के ही काम में लगे रहें, बल्कि यह है कि खादी के काम से जितना समय उनका निकले, उसमें वे गाँव के चालू उद्योग-धन्धों की खोज करें, और उसमें दिलचस्पी लें, लोगों के जीवन में अपने को ओत-प्रोत कर दें। खादी या चर्खे में भले ही लोगों का विश्वास न हो, तो भी इन सेवकों को वे मनुष्य तो समझेंगे ही और इनके जीवन से उन्हें जो उपयोगी बातें मिलेंगी, वे ग्रहण करेंगे। अपनी शक्ति से बाहर की बातों में वे हाथ न डालें, जैसे लोगों के कर्ज़ की बात। ऐसी अशक्य बातों में पड़ने से उनमें उनके खुद फँस जाने का भय है। गाँव की सफ़ाई ग्राम-सेवक का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य रहेगा। अपने रहने का घर वह ऐसा साफ़-सुथरा रक्खेगा, कि उसे देखते लोगों का दिल न भरेगा। पर जिस तरह वह अपने घर-आँगन को साफ़ रक्खेगा, उसी तरह लोगों के आँगनों की भी सफ़ाई करता रहेगा।

## वैद्य-डाक्टर न बनें

ग्राम-सेवक गाँवों में वैद्यराज या डाक्टर साहब बनने का धन्धा न ले बैठें। हरिजन-प्रवास में मुझे एक ग्राम-आश्रम देखने का मौक़ा आया, पर वहाँ मैंने जो देखा उससे बड़ा क्षोभ हुआ। आश्रम के

व्यवस्थापक और कार्यकर्ताओं को मैंने खूब खरी-खरी सुनाईं। मैंने कहा—"वाह साहब वाह! तुमने यह खूब आश्रम बनाया। यहाँ तो तुम एक आलीशान महल बनाकर बैठे हो, यह तो ख़ासा एक डाक-बँगला है और, इसमें दवाख़ाना भी खोल दिया है। पास-पड़ोस के गाँवों में तुम्हारे स्वयंसेवक घर-घर दवाइयाँ बाँटते फिरते हैं। कम्पाउण्डर भी तुम्हारे दवाखाने में हैं। मुझसे बड़े गर्व से कहते हो, नित्य दूर-दूर से लोग दवा लेने हमारे आश्रम में आते हैं, और हर माह १२०० मरीज़ों की औसत हाजिरी रहती है। तुमने आश्रम में कभी ऐसा शानदार मकान और दवाखाना देखा था? मुझे ऐसा महल खड़ा करना होता, या ऐसा बढ़िया दवाखाना खोलना होता, तो क्या उसके लिए मुझे कोई पैसा देनेवाला न मिल जाता? आश्रम का मकान भी मेरी मर्ज़ी से अधिक ख़र्चीला था, तो भी तुम्हारे इस महल की बराबरी तो मेरा आश्रम भी नहीं कर सकता। लोगों को इस तरह दवा-दारू देने का काम तुम्हारा नहीं है। तुम्हारा काम तो उन्हें आरोग्यता और स्वच्छता का सबक़ सिखाने का है। स्वेच्छाचारी बनकर, गन्दे रहकर, और घर या गाँव को गन्दा रखकर ये लोग बीमार पड़ें और तुम्हारा दवाखाना उन्हें दवाइयाँ दे, यह तो ग्राम-सेवा नहीं है! तुम्हें तो गाँवोंवालों को संयम और स्वच्छता सिखानी है, आरोग्यता के नियम सिखाने हैं। यही उनकी सेवा है। मेरी सलाह मानो, तो इस आलीशान मकान को छोड़ दो, और सामने के झोंपड़े में जा बसो। यह मकान तो भाड़े पर लोकल बोर्ड को उठा दो, और उसे ही यहाँ अपना दवाखाना चलाने दो।" तुम्हें याद होगा, कि चम्पारन में हमारे पास क्विनैन, रेण्डी का तेल और आइडीन यही दो-तीन दवाइयाँ रहती थीं। आरोग्य और सफ़ाई की बात

ही ग्राम-सेवक को लोगों के दिल में बिठानी है। आज तो वहाँ यह दशा है, कि लोग चाहे जहाँ पेशाब करने बैठ जाते हैं, चाहे जहाँ थूक देते हैं और चाहे जहाँ कूड़ा-कचरा डाल देते है।

इसके बाद उसे गाँव के हरिजनों की सेवा करनी है। ग्राम-सेवक का घर हरिजनों के लिए हमेशा खुला रहेगा। संकट और कठिनाई के समय स्वभावतः वे लोग उसके यहाँ दौड़े आयँगे। अगर गाँववाले उस सेवक के घर में हरिजनों का आना-जाना पसन्द न करें, और उसे अपनी बस्ती से निकाल बाहर कर दें, या वहाँ रहकर वह हरिजन-सेवा न कर सके, तो हरिजन-बस्ती में जाकर वह अपना डेरा डाल ले।

## शिक्षा में अक्षर-ज्ञान का स्थान

अब रहा शिक्षा का प्रश्न। १९२२ में जो 'बालपोथी' मैंने लिखी थी, उसे मैं भूला नहीं हूँ। उसमें की चीज़ मैं आप लोगों को यद्यपि ग्रहण नहीं करा सका, पर वह चीज़ अब भी मेरे पास वैसी ही बनी हुई है। मैं नहीं जानता, कि वह पोथी आज प्राप्य है या नहीं; पर वह उपलब्ध न हो, तो मैं उसे फिर से लिखकर दे सकता हूँ। बात तो असल में यह है, कि हाथ के पहले बालकों की आँख, कान और जीभ काम करेगी। इसलिए इतिहास, भूगोल आदि जो भी अध्यापक उसे पढ़ायेगा, वह ज़बानी ही पढ़ायेगा। इसके बाद वह वर्णमाला और बारह-खड़ी पढ़ेगा, और फिर अक्षर-चित्रों के बनाने का अभ्यास करेगा। इसका पूरा-पूरा प्रयोग आपको करना चाहिए। मुझे लगता है कि लोगों की बुद्धि तक पहुँचकर उसे जागृत करने का मेरा यह मार्ग सुगम-से-सुगम है। मेरे बचपन का अनुभव मेरी स्मृति में अब

भी वैसा ही ताज़ा बना हुआ है। जब मैंने महाभारत की कहानियाँ सुनी थीं, तब मैं शायद अक्षर गोदना सीख रहा था; और रामायण की बात जब सुनी, तब एक-दो पोथियाँ पढ़ी होंगी। पर इससे मुझे महाभारत और रामायण की कथा-कहानी समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती थी।

लोगों को हमें भ्रम-जाल में नहीं डालना है। अगर हमने उनसे यह कहा, कि बिना अक्षर-ज्ञान के शिक्षा प्राप्त होने की नहीं, तो वे उलटे ही रास्ते जायँगे। बड़ों को और बालकों को इस प्रकार मौखिक ज्ञान देने की यह बात मेरी इस ग्राम-संगठन की कल्पना में मौजूद है। किन्तु इसका अर्थ कोई यह न करे कि मैं साक्षरता का विरोधी हूँ। मैं तो अक्षर-ज्ञान का सदुपयोग चाहता हूँ।

ग्राम-सेवक साहित्यिक या ज्ञान-विलासी जीवन बिताकर ग्राम-वासियों को असली शिक्षा-दान नहीं दे सकता। उसके पास तो बसूला होगा, हथौड़ा होगा, कुदाली होगी, फावड़ा होगा—किताबें तो थोड़ी-सी ही होंगी, किताबें पढ़ने में वह कम-से-कम समय लगायगा। लोग जब उससे मिलने आवें, तो वे उसे पड़े-पड़े किताबों के पन्ने उलटते हुए न देखें। उन्हें तो वह औज़ार चलाता हुआ ही मिले। मनुष्य जितना खाता है, उससे अधिक पैदा करने की शक्ति ईश्वर ने उसे दी है। दुर्बल से भी दुर्बल मनुष्य इतना पैदा कर सकता है। इसके लिए वह अपने बुद्धि-बल का उपयोग करेगा। लोगों से यह कहेगा, कि मैं आपकी सेवा करने आया हूँ, पेट के लिए आप मुझे दो रोटियाँ देदें। सम्भव है, कि लोग उसका तिरस्कार करें, यह होते हुए भी उसे अपने गाँव में टिका तो रहने देंगे ही। किसी जगह उसे सनातनी रोटी न दें, तो हरिजन भाई तो देंगे ही। उसने यदि सर्वार्पण

कर दिया है, तो हरिजनों के घर से रोटी लेते उसे लज्जित होने की ज़रूरत नहीं। उसे यदि भोजन मिल जाय, तो वह अपनी पैदा की हुई चीज़ों के बेचने आदि के जंजाल में न पड़े। पर जहाँ लोगों का सहयोग न मिलता हो, वहाँ वह खुद कोई भी उद्योग करके उससे अपना गुज़ारा कर लेगा। शुरू-शुरू में तो जहाँ हो सके किसी सामाजिक संस्था के कोष से थोड़ा-सा पैसा लेकर वह अपना निर्वाह कर सकता है।

## गो-रक्षा

अभी गो-रक्षा का प्रश्न मैंने जान-मानकर छोड़ दिया है यह बड़ा व्यापक प्रश्न है। अभी तो हम चमड़ा सिझाने और रङ्गने का ही सवाल हल नहीं कर सके। यह तो सूझ रहा है, कि गाय का पुनरुद्धार हमें किस प्रकार करना है, पर यह बात अभी ठीक-ठीक समझ में नहीं आई, कि इस सम्बन्ध के उपायों की योजना किस तरह तैयार की जाय। भैंस को उत्तेजन देना एक तरह से गो-वंश का नाश करना है। पर यह चर्चा तो फिर कभी करूँगा।

## आत्म-बल ही मुख्य बल है

याद रखिए, कि हमारे अस्त्र-शस्त्र सब आध्यात्मिक हैं। आध्यात्मिक शक्ति एकबार हममें आई, कि फिर उसे कोई रोक नहीं सकता। इस बात को मैं अपने अनेक वर्षों के अनुभव-सिद्ध विश्वास के आधार पर कह रहा हूँ। यह आध्यात्मिक शक्ति चर्मचक्षु से प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली कोई साकार वस्तु नहीं है, तो भी मैं कहता हूँ, कि मुझे तो यह प्रत्यक्ष ही देख पड़नेवाली जैसी चीज़ लगती है।

आप यह न कहें, कि ग्राम-सेवा का यह कार्यक्रम तो हमसे पूरा

होने का नहीं, यह चीज़ तो असम्भव है, क्योंकि हममें उतनी योग्यता हीं नहीं। मेरा तो यह कहना है, कि यदि यह बात निःसंशय रीति से आपके दिल में बैठ गई है, तो आप सब लोग इस कार्यक्रम को पूरा कर सकते हैं, आप अयोग्य नहीं हैं। बात तो समझ में आ गई, पर उसपर हम अमल कर नहीं सके, इसमें कोई घबराने या हताश होने की बात नहीं। प्रयोग करने में शर्म कैसी ? हमें तो गाँवों में बैठकर इसे अमल में लाना है। अमल करते-करते ही तो अनुभव प्राप्त होगा।

ह० से० ७-९-३४

: १९ :

# वीरभूमि का एक नम्र देहाती

'वीरभूमि के एक नम्र देहाती' ने, जो कि शान्ति-निकेतन में रहते हैं, दीनबन्धु एण्ड्रयूज़ की मार्फत मेरे पास नीचे लिखे प्रश्न भेजे हैं :—

१. "आपकी राय में आदर्श भारतीय ग्राम की कल्पना क्या है ? और हिन्दुस्तान की मौजूदा सामाजिक और राजनैतिक हालत में 'आदर्श गाँव' के ढंग पर एक ग्राम का किस हद तक वास्तविक पुनर्निर्माण किया जा सकता है ?

२. एक कार्यकर्त्ता को सबसे पहले गाँव की किन समस्याओं को हल करने की कोशिश करनी चाहिए और किस प्रकार उसे उनकी शुरूआत करनी चाहिए ?

३. छोटे पैमाने पर ग्रामीण प्रदर्शिनियाँ या संग्रहालय बनाये जायँ तो उनके ख़ास-ख़ास विषय क्या हों और गाँवों के पुनर्निर्माण में इन प्रदर्शिनियों का सबसे अच्छा उपयोग कैसे किया जाय ?"

१. आदर्श भारतीय ग्राम इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिए, जिससे वह सम्पूर्णतया नीरोग हो सके। उसके झोंपड़ों और मकानों में काफ़ी प्रकाश और वायु आ-जा सके। और ऐसी चीज़ों का बना हो, जो पाँच मील की सीमा के अन्दर उपलब्ध हो सकती। हर मकान के आस-पास या आगे-पीछे इतना बड़ा आँगन हो, जिसमें गृहस्थ अपने लिए साग-भाजी लगा सके और अपने पशुओं

को रख सके। गाँव की गलियों और रास्तों पर जहाँतक हो सके धूल न हो। अपनी ज़रूरत के अनुसार गाँव में कुंएँ हों, जिनसे गाँव के सब आदमी पानी भर सकें। सबके लिए प्रार्थना-घर या मंदिर हों, सार्वजनिक सभा वगैरा के लिए एक अलग स्थान हो, गाँव की अपनी गोचरभूमि हो, सहकारी ढंग की एक गोशाला हो, ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालायें हों, जिनमें औद्योगिक शिक्षा सर्व-प्रधान वस्तु हो, और गाँव के अपने मामलों का निपटारा करने के लिए एक ग्राम-पंचायत भी हो। अपनी ज़रूरतों के लिए नाज, साग-भाजी, फल, खादी वगैरा खुद गाँव में ही पैदा हो। एक आदर्श गाँव की मेरी अपनी यह कल्पना है। मौजूदा परिस्थिति में उसके मकान ज्यों-के-त्यों रहेंगे। सिर्फ़ यहाँ-वहाँ थोड़ा-सा सुधार कर देना अभी काफ़ी होगा अगर कहीं ज़मींदार हो और वह भला आदमी हो या गाँव के लोगों में सहयोग और प्रेम-भाव हो, तो बग़ैर सरकारी सहायता के, खुद ग्रामीण ही—जिनमें ज़मींदार भी शामिल है—अपने बलपर लगभग ये सारी बातें कर सकते हैं। हाँ, सिर्फ़ नये सिरे से मकानों को बनाने की बात छोड़ दीजिए। और अगर सरकारी सहायता भी मिल जाय, तब तो ग्रामों की इस तरह पुनर्रचना हो सकती है, कि इसकी कोई सीमा ही नहीं। पर अभी तो मैं यही सोच रहा हूँ कि खुद ग्राम-निवासी अपने बलपर परस्पर सहयोग के साथ और सारे गाँव के भले के लिए हिल-मिलकर मेहनत करें तो क्या-क्या कर सकते हैं? मुझे तो यह निश्चय हो गया है कि अगर उन्हें उचित मशविरा और मार्ग-दर्शन मिलता रहे तो गाँव की—मैं व्यक्तियों की बात नहीं करता—आय बराबर दूनी हो सकती है। व्यापारी दृष्टि से काम में आने लायक़ अखूट, साधन-सामग्री हर

गाँव में भले ही न हो, पर स्थानीय उपयोग और लाभ के लिए तो लगभग हर गाँव में है। पर सबसे बड़ी बदक़िस्मती तो यह है कि अपनी दशा सुधारने के लिए गाँव के लोग ख़ुद कुछ नहीं करना चाहते।

२. एक गाँव के कार्यकर्त्ता को सबसे पहले गाँव की सफ़ाई और आरोग्य के सवाल को अपने हाथ में लेना चाहिए। यों तो ग्रामसेवकों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देनेवाली अनेक समस्यायें हैं, पर यह ऐसी है जिसकी सबसे अधिक लापरवाही की जा रही है। फलतः गाँव की तन्दुरुस्ती बिगड़ती जारही है और रोग फैलते रहते हैं। अगर ग्राम-सेवक स्वेच्छापूर्वक भंगी बन जाय तो वह प्रतिदिन मैला उठाकर उसकी खाद बना सकता है और गाँव के रास्ते बुहार सकता है। वह लोगों से कहे कि उन्हें पखाना-पेशाब कहाँ करना चाहिए। किस तरह सफ़ाई रखनी चाहिए, उससे क्या लाभ है, उसके न रखने से क्या-क्या नुक़सान होता है। गाँव के लोग उसकी बात चाहे सुनें या न सुनें, वह अपना काम बराबर करता रहे।

३. तमाम ग्रामीण प्रदर्शिनियों में प्रधान वस्तु तो चरखा हो, और स्थानीय परिथिति में लाभदायक अन्य उद्योग उसके आस-पास हों। अगर ऐसी प्रदर्शिनी हो और उसके साथ-साथ प्रत्यक्ष प्रयोग और व्याख्यान और पर्चे भी हों तो ग्रामीणों के लिए वह निःसन्देह वस्तु-पाठ का काम देगी और उनके लिए खूब शिक्षा-प्रद होगी।

ह० से० १६-१-३७

: २० :

# हमारे गाँव

एक युवक ने, जो एक गाँव में रहकर अपना निर्वाह करने की कोशिश कर रहा है, मुझे एक दुःखजनक पत्र भेजा है। यह अंग्रेज़ी ज्यादा नहीं जानता। इसलिए उसने जो पत्र भेजा है, उसे संक्षिप्त रूप में ही देता हूँ :—

"१५ साल एक क़स्बे में बिताकर, तीन साल पहले, जब कि २० बरस का था, मैंने इस ग्राम-जीवन में प्रवेश किया। अपनी घरेलू परिस्थितियों के कारण मैं कालेज की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सका। अतः आपने ग्राम-पुनर्रचना का जो काम शुरू किया, उसने मुझे ग्राम-जीवन ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहन दिया। मेरे पास कुछ ज़मीन है। कोई २५०० की मेरे गाँव में बस्ती है। लेकिन इस गाँव के निकट-सम्पर्क में आने के बाद कोई तीन-चौथाई से भी ज्यादा लोगों में मुझे नीचे लिखी बात मिलती हैं :—

(१) दलबन्दी और लड़ाई-झगड़े
(२) ईर्ष्या-द्वेष
(३) निरक्षरता
(४) शरारत
(५) फूट
(६) लापरवाही
(७) बेढंगापन

(८) पुरानी निरर्थक रूढ़ियों से चिपके रहना
(९) बेरहमी।

यह स्थान दूर एक कोने में है, जहाँ आमतौर पर कोई आता-जाता नहीं। कोई बड़ा आदमी तो ऐसे दूर के गाँवों में कभी नहीं गया। लेकिन उन्नति के लिए बड़े आदमियों की संगति आवश्यक है। इसलिए इस गाँव में रहते हुए मैं डरता हूँ। तो क्या इस गाँव को मैं छोड़ दूँ? आप मुझे क्या सलाह और आदेश देते हैं?"

इसमें शक नहीं कि इस नवयुवक ने ग्राम-जीवन की जो तस्वीर खींची है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण है, मगर उसने जो-कुछ कहा है उसे आमतौर पर माना जा सकता है। यह बुरी हालत क्यों है, इसकी वजह मालूम करने के लिए दूर जाने की ज़रूरत नहीं। क्योंकि जिन्हें शिक्षा का सौभाग्य प्राप्त है, उन्होंने गाँवों की बहुत उपेक्षा की हुई है। उन्होंने अपने लिए शहरी जीवन को चुना है। ग्राम-आन्दोलन तो इसी बात का एक प्रयत्न है कि जो लोग सेवा की भावना रखते हैं, उन्हें गाँव में बसकर ग्रामवासियों की सेवा में लग जाने के लिए प्रेरित करके गाँवों के साथ स्वास्थ्यप्रद सम्बन्ध स्थापित कराया जाय। पत्र-प्रेषक युवक ने जो बुराइयाँ देखीं वे ग्राम-जीवन में बद्ध-मूल नहीं है। फिर, जो लोग सेवा-भाव से गाँवों में बसे हैं, वे अपने सामने कठिनाइयों को देखकर हतोत्साह नहीं होते। वे तो इस बात को जानकर ही वहाँ जाते हैं कि अनेक कठिनाइयों में, यहाँतक कि गाँववालों की उदासीनता के होते हुए भी, उन्हें वहाँ काम करना है। जिन्हें अपने मिशन और खुद अपने-आप में विश्वास है, वही गाँववालों की सेवा करके उनके जीवन पर कुछ असर डाल सकेंगे। सच्चा जीवन बिताना खुद ऐसा सबक़ है जिसका आस-पास के लोगों पर ज़रूर

असर पड़ता है। लेकिन इस नवयुवक के साथ कठिनाई शायद यह है कि वह किसी सेवा-भाव से नहीं, बल्कि सिर्फ़ अपने निर्वाह के लिए, रोज़ी कमाने को गाँव में गया है। और जो सिर्फ़ कमाई के लिए ही वहाँ जाते हैं, उनके लिए ग्राम-जीवन में कोई आकर्षण नहीं है, यह मैं स्वीकार करता हूँ। सेवा-भाव के बग़ैर जो लोग गाँवों में जाते हैं उनके लिए तो उसकी नवीनता नष्ट होते ही ग्राम-जीवन नीरस हो जायगा। अतः गाँवों में जानेवाले किसी युवक को कठिनाइयों से घबराकर तो अपना रास्ता कभी नहीं छोड़ना चाहिए। सबके साथ प्रयत्न जारी रक्खा जाय तो मालूम पड़ेगा कि गाँववाले भी शहरवालों से बहुत भिन्न नहीं हैं और उनपर दया करने व ध्यान देने से वे भी साथ देंगे। यह निस्सन्देह सच है कि गाँवों में देश के बड़े आदमियों के सम्पर्क का अवसर नहीं मिलता। हाँ, ग्राम-मनोवृत्ति की वृद्धि होने पर नेताओं के लिए यह ज़रूरी हो जायगा कि वे गाँवों में दौरा करके उनके साथ जीवित-सम्पर्क स्थापित करें। मगर चैतन्य, रामकृष्ण, तुलसीदास, कबीर, नानक, दादू, तुकाराम, तिरुवल्लुवर जैसे सन्तों के ग्रन्थों के रूप में महान् और श्रेष्ठ जनों का सत्संग तो सबको अभी भी प्राप्त है। कठिनाई यही है कि मन को इन स्थायी महत्त्व की बातों को ग्रहण करने योग्य कैसे बनाया जाय? अगर आधुनिक विचारों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक साहित्य प्राप्त करने से आशय हो तो इसके लिए साहित्य मिल सकता है। लेकिन यह मैं मंजूर करता हूँ कि जिस आसानी से धार्मिक साहित्य मिल जाता है वैसे यह साहित्य नहीं मिलता। सन्तों ने तो सर्वसाधारण के लिए ही लिखा और कहा है। पर आधुनिक विचारों को सर्वसाधारण के ग्रहण करने योग्य रूप में अनूदित करने का शौक़

अभी पूरे रूप में सामने नहीं आया। यह ज़रूर है कि समय रहते ऐसा होगा सही अतएव इस पत्र-प्रेषक जैसे नवयुवकों को मेरी सलाह है कि अपने प्रयत्न को छोड़ न दें, बल्कि उसमें लगे रहें और अपनी उपस्थिति से गाँवों को अधिक प्रिय और रहने योग्य बना दें। लेकिन ऐसा वे करेंगे, ऐसी सेवा के ही द्वारा जो गाँववालों के अनुकूल हो। अपने ही परिश्रम से गाँवों को अधिक साफ़-सुथरा बनाकर और जितनी अपनी योग्यता हो उसके अनुसार गाँवों की निरक्षरता दूर करके हरेक व्यक्ति इसकी शुरूआत कर सकता है। और अगर उनके जीवन साफ़, सुघड़ और परिश्रमी हों तो इसमें कोई शक नहीं कि जिन गाँवों में वे काम कर रहे होंगे, उनमें भी उसकी छूत फैलेगी और गाँववाले भी साफ़, सुघड़ और परिश्रमी बनेंगे।

ह० से० २०-२-३७

: २१ :

# एक महान् प्रयोग

अहमदाबाद के 'मजूर-महाजन' (मज़दूर-संघ) ने हाल में बाक़ायदा एक प्रयोग शुरू किया है, जो मजदूरों के अलावा दूसरों के लिए भी उपयोगी साबित हो सकता है। प्रयोग यह है कि मिलों में काम करनेवाले मजदूर अपने धन्धे के अलावा कोई भी एकाध सहायक धन्धा ठीक तरह से सीख लें। यह इसलिए कि जब किसी मिल के मज़दूरों को सशक्त होते हुए भी बेकार हो जाना पड़े, तब उस वक्त के लिए वे इस प्रकार तैयार होजायँ कि आजीविका के अन्य साधनों के अभाव में उन्हें भूखों न मरना पड़े। वक्त ज़रूरत के लिए कुछ बचा लेने का रास्ता किफ़ायतसारी का तो है ही। पर जहाँ पर्याप्त भोजन और ठीक तरह से रहने लायक़ मकान भी नसीब न हो वहाँ बच ही क्या सकता है? और कोई कुछ बचाये भी तो, हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने से उस पैसे पर कबतक निर्वाह हो सकता है? सच्चा आत्म-विश्वास पैदा करने के लिए मनुष्य के पास जीविका के एक से अधिक साधनों का होना ज़रूरी है।

मिल-मज़दूरों की पहली हड़ताल जब १९१८ में दो तीन दिन की हुई तब यह विचार सामने आया था। उस समय ही यह विचार आया कि मजदूर सार्वजनिक चन्दे के बजाय अपनी मिहनत पर निर्वाह करें, यह ज़रूरी है। उस वक्त कोई धन्धा तो नज़र में था नहीं। सत्याग्रहाश्रम के मकान बन रहे थे। बहुत-से तो इस काम में लग

गये और कुछ को म्युनिसिपैलिटी के किसी काम में लगा लिया। उस वक्त ही मैंने यह तजवीज़ रक्खी थी कि मज़दूरों को कोई सहायक धन्धा सीख लेना चाहिए। दूसरी हड़ताल तक इस सुझाव पर अमल नहीं हुआ। लेकिन दूसरी हड़ताल के समय मज़दूरों ने हाथ-बुनाई काम सीखना शुरू किया, पर हड़ताल ख़त्म होने के बाद इस चीज़ को वे भूल गये।

पर अब इस चीज़ का नियमपूर्वक आरम्भ हुआ है। मज़दूरों ने ऐसा धन्धा खोज निकाला है कि जिसे वे अपने फालतू समय में या केवल बेकारी में चलाकर अपनी रोज़ी पैदा कर सकें। उन्होंने जो धन्धा पसन्द किया है, उसमें रुई सम्बन्धी सब क्रियाओं का--अर्थात् साफ़ करना, ओटना, धुनकना, कातना, बुनना, सीना--और साबुन कागज़ बनाने, तथा टाइप बिठाने (कंपोजिंग) वग़ैरा का समावेश हो जाता है।

यदि मज़दूरों को स्वतन्त्र रहना है, स्वाभिमान बनाये रखना है, और आजीविका के विषय में निर्भय रहना है तो उन्हें रोज़ी के अनेक साधन जुटाने चाहिएं। कल्पना इस प्रकार की है कि जैसे पूँजीपति की पूँजी उसका पैसा है, उसी तरह मज़दूर की पूँजी उसकी मजदूरी करने की अनेक प्रकार की शक्ति है। धनवान को थोड़े-बहुत अंश में मज़दूर की ज़रूरत पड़ेगी ही, इसी तरह मज़दूर की पूँजी-रूपी मज़दूरी को धन की ज़रूरत पड़ेगी। अगर दोनों में बुद्धि और यह सामान्य निश्चिन्तता हो कि उनकी पूँजी की दूसरों आवश्यकता है, तो दोनो ही पक्ष एक-दूसरे को इज़्ज़त की नज़र से देखेंगे। धनवानों की तरह मज़दूर भी अपना सगठन कर सकते हैं। मज़दूर अपने को निराधार मानते हैं, क्योंकि उनका संगठन नहीं हुआ है। उन्हें अपनी शरीररूपी पूँजी की क़ीमत का भान नहीं हुआ। अगर

संगठन हो और वे अपनी पूँजी की क़ीमत समझ जायँ, तो मज़दूर उतने ही निश्चिन्त हो सकते हैं, जितने कि धनवान हैं।

पैसा दुनिया में सब कुछ कर सकता है और मज़दूर पैसे का दास है, ये दोनों ही घोर भ्रम हैं, अज्ञान की निशानी हैं। यह दोहरा भ्रम दूर करने का प्रयास मज़दूर-संघ के कार्यकर्त्ता कर रहे हैं। इस प्रयास में मज़दूरों को कोई-न-कोई सहायक धन्धा सीख लेना बहुत ज़रूरी है। अतः अहमदाबाद के मजूर-महाजन का यह प्रयास अभिनन्दनीय है। मुझे आशा है कि मजदूर इस शुभ आरम्भ को छोड़ेंगे नहीं। बुद्धि का विकास इस मार्ग से सहज हो जायगा। इसका आधार शिक्षकों पर मुख्यतया रहेगा।

ह० से० १०-७-३७

: २२ :

# अपूर्व प्रदर्शिनी

[ कांग्रेस के बम्बई-अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास किया था उसके ठीक-ठीक आशय के अनुसार चर्खा-संघ के मंत्री श्री शंकरलाल बैंकर और ग्राम-उद्योग-संघ के मंत्री श्री जे० पी० कुमारप्पा की सहायता से लखनऊ-काँग्रेस की स्वागत-समिति ने लखनऊ में एक प्रदर्शिनी का आयोजन किया है, जिसका उद्घाटन २८ मार्च की शाम को गाँधीजी ने किया। अपने ढंग की यह एक अपूर्व प्रदर्शिनी है। तफसीलवार वर्णन तो इसका मैं अगले अंक में करूँगा, यहाँ तो सिर्फ़ गांधीजी के भाषण को संक्षिप्त रूप में दे रहा हूँ। म० दे० ]

मुझे आशा नहीं थी कि ईश्वर मुझे इस प्रदर्शिनी को खोलने का मौक़ा देगा। मेरी स्थिति कुछ ऐसी थी कि आख़िरी वक्त तक प्रदर्शिनी के कार्यकर्त्ताओं को मैं यह विश्वास न दिला सका कि मैं अवश्य ही आजाऊँगा। शुरू से ही मेरा दिल तो बहुत चाहता था कि इस प्रदर्शिनी को खोलने के लिए मैं यहाँ जरूर आऊँ। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि डा० मुरारीलाल और श्री शङ्करलाल बैंकर ने इस प्रदर्शिनी को जुटाने में बहुत अधिक परिश्रम किया है, तो भी उनकी इस मेहनत के पीछे कल्पना मेरी ही थी। इस तरह की प्रदर्शिनी के बारे में बरसों से अपने दिल में जो कल्पना मैं रखता आया था, उसको मैं इस प्रदर्शिनी में देखता हूँ। सन् १९२० में काँग्रेस का जब नया विधान बनाया गया, तो पहली बार हमारा ध्यान गाँवों की ओर गया। उसके बाद

से ही हम अपने देहाती भाई-बहनों के विषय में भी कुछ सोचने लगे। नये विधान के बाद अहमदाबाद की कांग्रेस के साथ, जो नुमाइश हुई थी, उसमें मैंने इस सम्बन्ध की अपनी कुछ कल्पनाओं को मूर्त्तरूप देने की चेष्टा की थी। मैं मानता हूँ, कि देहात और देहातियों के बारे में मैंने खूब सोचा है। और यह तो मैंने हमेशा ही कहा है कि हिन्दुस्तान हमारे चन्द शहरों से नहीं, बल्कि ७ लाख गाँवों से बना है। आज हम लोग जो यहाँ इकट्ठे हुए हैं, देहात के नहीं, शहर के रहनेवाले हैं और हम में से कइयों का यह ख़याल है कि हिन्दुस्तान शहरों में है और देहातवाले शहरवालों की ख़िदमत के लिए हैं। यही वजह है, कि हम देहातों के बारे में उनके सुख-दुःख और भूख-प्यास के सम्बन्ध में बहुत कम सोचते हैं। हम इस बात का कभी ख़याल भी नहीं करते कि उन्हें क्या तो खाने-पीने को मिलता है, और क्या पहनने-ओढ़ने को। कांग्रेस का काम करनेवाले चन्द लोग ऐसे ज़रूर हैं, जो देहातियों के सुख-दुःख में हाथ बटाने की कोशिश करते हैं। लेकिन इन थोड़े-से लोगों के नाम पर शहरवाले यह दावा नहीं कर सकते कि वे देहातवालों की सेवा करते हैं।

देहातों की जो हालत है, उसे मैं ख़ूब जानता हूँ। मेरा ख़याल है कि हिन्दुस्तान को घूमकर जितना मैंने देखा है, उतना कांग्रेस के नेताओं में से किसीने नहीं देखा है। पंजाब से लेकर कन्याकुमारी तक जितना भ्रमण मैंने किया है, उतना और किसीने नहीं किया। यह बात मैं किसी अभिमान के वश होकर नहीं कह रहा हूँ। मैं तो सिर्फ़ यह बतलाना चाहता हूँ कि देहात के बारे में जो-कुछ मैं कहता हूँ वह पूरे तजुर्बे के आधार पर। मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान के देहातों को शहरवालों ने इतना चूसा है कि उन बेचारों को अब

रोटी का एक टुकड़ा भी वक्त पर नहीं मिलता और वे दाने-दाने को तरसते हैं। यह बात अकेला मैं नहीं कहता, जिन अंग्रेज़ों की यहाँ हुकूमत है, वे यह तो नहीं कह सकते कि हिन्दुस्तान भूखों मर रहा है, लेकिन उनमें से किसीने अबतक यह नहीं कहा कि हिन्दुस्तानियों को भर-पेट खाना मिलता है। क्या आप जानते हैं कि देहातवालों को खाने के लिए क्या मिलता है? अगर चावल मिलता है तो दाल नहीं मिलती, और रोटी मिलती है तो साग-भाजी नहीं मिलती। कहीं-कहीं तो देहातवाले सिर्फ सत्तू खाकर जीते हैं। यह सत्तू क्या है, सो आपको बताऊँ? लोग मटर, चना और जौ वगैरा को भूनकर पीस लेते हैं और अगर मिला तो थोड़ी मिर्च और गन्दा-सा नमक मिलाकर उसी को खा लेते हैं। यही उनकी खूराक होती है। इस खूराक पर कैसे तो वे जिन्दा रह सकते हैं, कैसे तगड़े और तन्दुरुस्त बन सकते हैं और कैसे उनकी बुद्धि का विकास हो सकता है? यह बिलकुल नामुमकिन बात है। अगर हम लोगों को इस खूराक़ पर जीना पड़े तो शायद दूसरे ही दिन हम यह शिकायत करेंगे कि इसे खाकर जीना हमारे लिए सम्भव ही नहीं है। तन्दुरुस्त रहना, काम करना और दिमाग़ से सोचना तो दूर की बात है।

देहातवालों की इन्हीं सब मुश्किलों का ख़याल करके पिछले साल बम्बई में काँग्रेस ने अखिल-भारतीय-ग्राम-उद्योग-संघ नामक एक नई संस्था खोली। इससे पहले अखिल-भारत-चर्खा-संघ-द्वारा देहात में खादी का काम होरहा था। आज भी हो रहा है, लेकिन, अकेले इससे मुझे कभी सन्तोष न था। मैं तो कई वर्षों से यह मानता आ रहा हूँ कि खादी के अलावा, दूसरे भी ऐसे अनेक धन्धे हैं, जो गाँववालों के जीवन के लिए बहुत आवश्यक और उपयोगी हैं, और जिससे

उनकी हालत एक बड़ी हदतक सुधारी जा सकती है। इसके लिए हमें यह देखना है कि देहातवाले कैसे रहते हैं, क्या काम करते हैं और उनके कामको कैसे तरक्क़ी दी जा सकती है। यही वजह है कि कांग्रेस ने गाँव में काम करनेवाले चर्खा-संघ और ग्राम-उद्योग-संघ को इन प्रदर्शनी के आयोजन का भार सौंपा है। इस बार की यह प्रदर्शिनी अपने ढङ्ग की पहली प्रदर्शिनी है। इसकी रचना के पीछे कल्पना मेरी रही है। यह देहातवालों के हित के लिए है। लेकिन उन्हें लखनऊ लाना तो बड़ा कठिन काम है। उनमें से असंख्य स्त्री-पुरुष तो ऐसे हैं कि जो लखनऊ का नाम तक नहीं जानते। हमारे लिए यह कोई अचरज की बात नहीं है, बल्कि बड़े रंज और शर्म की बात है। इसीलिए इस नुमाइश के ज़रिये हम दिखाना यह चाहते हैं कि भूख से बेहाल इस हिन्दुस्तान में भी आज ऐसे-ऐसे हुनर, उद्योग-धन्धे और कला-कौशल मौजूद हैं, जिनका हमें कभी ख़याल भी नहीं होता। इस नुमाइश की यही विशेषता है।

अगर आप शहरों में होनेवाली दूसरी नुमाइशों से इसकी तुलना करेंगे तो मैं आपसे कहूँगा कि आपको इसमें निराशा होगी। लेकिन यदि आप देहातवालों का ख़याल लेकर वैसी नज़र से इसे देखेंगे तो आपको इस नुमाइश से कभी ना-उम्मीद न होना पड़ेगा। साथ ही मैं यह भी कहूँगा कि यह नुमाइश कोई तमाशा नहीं है और न इसे तमाशा बनाने का कभी ख़याल ही रहा है। यह नुमाइश तो एक ऐसी चीज़ है, जिससे आदमी बहुत-कुछ सीख सकता है। जिन्होंने इसे बनाया है, उन्होंने तो अपने वश-भर इसे तमाशा न बनाने की ही चेष्टा की है। लेकिन अक्सर कांग्रेस के साथ होनेवाली नुमाइश से कांग्रेस का ख़र्च निकालने का ख़याल रहता है। और अबतक की कांग्रेस-

प्रदर्शिनियों का आयोजन बहुत-कुछ इसी ख़याल से होता रहा है। लेकिन आज की इस नुमाइश से पैसा पैदा करने का इरादा असल में कभी नहीं रहा। मद्रास-काँग्रेस के साथ जो नुमाइश हुई थी, उसमें हमें सबसे ज्यादा पैसा मिला था। लखनऊ में भी चाहें तो काफी पैसा मिल सकता है।

पर यह नुमाइश तो एक ऐसी चीज़ है, जिसमें मनुष्य बहुत-कुछ सबक़ सीख सकता है। इसे देखने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि कोई अगर कुछ सीखना चाहे तो जबतक यह नुमाइश खुली है तबतक इससे फ़ायदा उठाकर वह बहुत-कुछ सीख सकता है। हम इसे कुछ सीखने की दृष्टि से देखें, तमाशे की दृष्टि से नहीं। मैं तो यह मानता हूँ कि जो एक बार इस नुमाइश को देख लेगा, उसे फ़ौरन ही पता चल जायगा कि हिन्दुस्तान के देहातों में अब भी कितनी ताक़त भरी पड़ी है।

देहात की इस ताक़त को पहचान कर जो २८ करोड़ देहातियों की सेवा करता है, वही काँग्रेस का सच्चा सेवक है। जो इन करोड़ों की सेवा नहीं करता, वह काँग्रेस का सरदार या नेता हो सकता है, सेवक या बन्दा नहीं बन सकता।

मृत-प्राय या अधमरा होने पर भी हिन्दुस्तान में जो ताक़त आज मौजूद है, उसका ख़याल आपको इस नुमाइश में मैसूर, मद्रास और काश्मीर से आये हुए कारीगरों के हुनरों को देखकर होगा। इन कारीगरों-द्वारा बड़ी मिहनत से बनाई हुई रुपयों की चीज़ों को कौड़ियों के मोल ख़रीदकर हमने उन्हें जिस दिशा को पहुँचा दिया है, वह हमारे लिए ज़रा भी शोभास्पद नहीं है। चर्खा-संघ और ग्राम-उद्योग-संघ के ज़रिये हम इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि

इन कारीगरों को अपनी मिहनत के बदले में पूरी मज़दूरी मिले ताकि वे सुख से रह सकें। लेकिन हमारी यह कोशिश बग़ैर आपकी मदद के कैसे कामयाब हो सकती है? हम तो यह चाहते हैं कि जिन लोगों को पहले सारा दिन काम करने पर दो पैसे दिये जाते थे, उन्हें =), ≡) या ।) दें और अगर हो सके तो ॥) और १) भी दें। लेकिन यह तो तभी हो सकता है कि जब आप हमें इस बात की गारण्टी दें कि उनको बनाई चीज़ों को आप पूरे दाम देकर ख़रीदेंगे। किन्तु मैं यह जानता हूँ कि आज आप इसके लिए तैयार नहीं हैं।

इस बात को यहीं छोड़कर मैं आपका ध्यान नुमाइश के अन्दर रक्खी हुई चीज़ों की ओर दिलाना बेहतर समझता हूँ। आमतौर पर हमारी नुमाइशें सिनेमा का ठाठ बन जाती हैं। यहाँ वह सब ठाठ नहीं है। और नुमाइश का यह सीधा-साधा-सा दरवाज़ा मेरी इस बात का सबूत है। दरवाज़े पर हल, पहिये, पञ्जे और नरही वग़ैरा जो लगे हैं, सो सब हमारे ग्राम-जीवन के सूचक हैं। दरवाज़े के आस-पास दोनों ओर हमारे ग्राम-जीवन का परिचय करानेवाले जो चित्र लगे हैं, वे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्ति-निकेतक से आये हुए श्री नन्दलाल बोस की प्रेरणा से उन्हींकी देख-रेख में बने हैं। नन्दलाल बाबू तो हिन्दुस्तान के एक बड़े ऊँचे कलाकार हैं। नुमाइश के अन्दर जिस चित्रशाला का निर्माण उन्होंने किया है, वह तो अवश्य ही देखने योग्य है। उससे हमें हिन्दुस्तान की पुरानी कला के उत्कर्ष का बोध होता है और इस समय जो ज्ञात और अज्ञात कलाकार देश में मौजूद हैं उनके सामर्थ्य का परिचय करानेवाली कृतियाँ देखने को मिलती हैं।

देहातवालों के बारे में मैं अपने आपको बहुत विज्ञ (Expert)

समझता हूँ। लेकिन इस नुमाइश में तो मुझे भी सबक़ सिखानेवाली कई चीज़ें मैं देख रहा हूँ। अगर मेरी तन्दुरुस्ती ठीक रही, तो मैं कई बार इसे आकर देखनेवाला हूँ। मैं यह मानता हूँ कि मैं यहाँ से बहुत-कुछ सीखकर जा सकता हूँ। जो सीखना चाहते हैं वे तो प्रवेश-द्वार की रचना और आसपास बने हुए इन चित्रों से भी बहुत कुछ बिना पैसा ख़र्चे ही सीख सकते हैं।

इनके अलावा भी नुमाइश के अन्दर कई चीज़ें ऐसी हैं, जिनका गौरव के साथ उल्लेख किया जा सकता है। लेकिन मैंने तो एक देहाती के ढंग से बहुत थोड़े में कुछ बातें आप लोगों को बतला दी हैं। अगर मैं कलाकार होता तो इन्हीं सब वस्तुओं का ऐसा वर्णन आपको सुनाता कि आप सुनकर मुग्ध हो जाते। लेकिन मेरे-जैसे देहाती के लिए यह सम्भव नहीं है। मैं देहाती हूँ या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन मेरा दिल देहाती है, इसमें मुझे ज़रा भी शक नहीं। इसलिए मैंने इस नुमाइश का ज़िक्र एक देहाती के हैसियत से आपके सामने किया है। हाँ, बैण्ड-बाजों और खेल-तमाशों का अभाव देखकर आप निराश न हों। यह नुमाइश इन चीज़ों के लिए है ही नहीं। यहाँ तो आपको कुछ ऐसे बेहाल आदमी देखने को मिलेंगे जो दिन-भर मिहनत करके मुश्किल से दो-चार आने पैसे पाते हैं।

इस नुमाइश में तो नुमाइशी चीज़ों के अलावा ऐसे कारीगर भी यहाँ आये हैं, जो अपने हुनर आपको बताने को तैयार हैं। आप उनके पास बैठकर उनसे बहुत-सी बातें सीख सकते हैं। ऐसा सुभीता और ऐसा अवसर छोड़ने योग्य नहीं है। इसलिए मैं कहता हूँ कि आप जो चन्द लोग यहाँ आगये हैं, वे इस नुमाइश के लिए मेरे प्रचारक बन जायँ और दूर-दूर तक इसका सन्देश पहुँचा दें। वरना

आपके सिर यह इल्ज़ाम रहेगा कि देहातवालों के लाभ के लिए जो नुमाइश की गई थी उसकी आपने उपेक्षा की।

आप यह याद रखिये कि यह नुमाइश देहातवालों के लिए नहीं, आपके लिए है। देहातवाले इसे क्या देखेंगे? वे तो इसे देखकर यही कहेंगे कि ऊँह, इसमें क्या रक्खा है! इससे अच्छी-अच्छी चीज़ें हम अपने गाँव में दिखा सकते हैं। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह नुमाइश तो शहरवालों के लिए है। और यदि मैं इसके लिए आपसे पैसा न लूँ तो किससे लूँ? क्या देहातवालों से लूँ? उनके लिए जैसी नुमाइश मैं चाहता हूँ, मौक़ा मिलने पर वैसी नुमाइश भी मैं करके दिखाऊँगा, और यदि मैं मर गया तो मेरे पीछे रहनेवाले उसे करके दिखायेंगे।

इस नुमाइश के लिए स्वागत-समिति ने ऐसी जगह का प्रबन्ध करके ३५ हज़ार के ख़र्च का बजट बनाया है। मैं जानता हूँ कि इस कार्य में उसे कई परेशानियों और मुसीबतों का सामना करना पड़ा है। स्वागत-समिति ने जो ३५ हज़ार रुपया ख़र्च किया है। उसे वापस दे देना आपका फ़र्ज़ है, इसीलिए तो मैं आपको अपना प्रचारक नियुक्त कर रहा हूँ। इस प्रचार-कार्य का कोई कमीशन मैं आपको नहीं दूँगा। लेकिन ईश्वर ज़रूर देनेवाला है। अगर आपको उसपर ऐतबार है, तो वह आपका कमीशन ज़रूर आपको भेज देगा।

मैं भी आपके इस शहर में थोड़े दिन पड़ा रहनेवाला हूँ। मैं रोज़ यह पता लगाता रहूँगा कि किस तरह आप मेरी एजेन्सी का काम करते हैं। आपके काम की परीक्षा के लिए मैं नुमाइश के ख़जांची से रोज़ाना यह पूछता रहूँगा कि अपने नुमाइश के लिए कितने आदमी और कितने पैसे भेजे। मैं उम्मीद करता हूँ और

अदब के साथ कहता हूँ कि नुमाइश के लिए रक्खे गये ।।) या ।) के टिकिट के लिए कोई शिकायत आपको नहीं होनी चाहिए। अगर आप लोगों की पूरी सहायता रही तो हमारा यह इरादा है कि हम यहाँ आनेवाले देहाती किसानों और मज़दूरों को यह नुमाइश मुफ्त में देखने का मौक़ा दें, लेकिन यह तभी हो सकता है, जब आप लोग लाख-दो लाख की संख्या में इस नुमाइश को देखने आवें और मेरा हौसला बढ़ा दें। वरना यह सुनकर कि आज नुमाइश में दो हज़ार आदमी आये, कल एक हज़ार और परसों कोई भी नहीं आया, मुझे सदमा पहुँचेगा। लेकिन अगर मेरे जैसे देहाती के नसीब में यह भी लिखा है तो उसे सह लूँगा। अन्त में, मैं यह कहूँगा कि इस प्रदर्शिनी में जो त्रुटियाँ रह गई हैं, मुझे उम्मीद है, आप उन कमियों को दरगुज़र करके इसमें जो कुछ सीखने लायक़ है, सो ज़रूर सीखेंगे।

ह० से० ४-४-३६

: २३ :

# लखनऊ की प्रदर्शिनी

"उस दिन मैंने आपसे यह कहा था कि यह नुमाइश कोई सिनेमा जैसी तमाशे की चीज़ नहीं है। मेरे यह कहने का आशय असल में कितना गहरा था इसे आप अच्छी तरह समझ लें। आप मेरी आँखों और कानों को लेकर इस प्रदर्शिनी में घूमेंगे, तो आपके मुँह से यह निकल ही पड़ेगा कि वाह! कैसी सुन्दर प्रदर्शिनी है।' यहाँ ऐसे अनेक नवयुवक होंगे, जो किसी स्त्री का नाच देखकर, उसके हाव-भावों पर मोहित हो 'वाह-वाह' कहने लग जाते होंगे। पर भगवान ने हमें जो आँखें दी हैं, वे किसी स्त्री का नाच देखकर 'वाह-वाह' कहने के लिए नहीं दी है। माता के रूप में हम उसे पहचाने, इसीलिए भगवान ने हमें ये आँखें दी हैं। यहाँ आप आयेंगे, तो अपनी आँखों और कानों को पवित्र बनायेंगे। प्रत्येक असुशिक्षाप्रद वस्तु के बहिष्कार का यहाँ प्रयत्न किया गया है। मेरी आँखों से आप देखेंगे, मेरे कानों से सुनेंगे तो आपके मुँह से जो 'वाह' निकलेगा वह शुद्ध 'वाह' होगा, गन्दा 'वाह-वाह' नहीं। दरगाह, मस्जिद अथवा मन्दिर में खुदा या राम का नाम सुनकर हम आनन्द-मग्न हो जाते हैं। इस नुमाइश को भी आप वैसी ही पवित्र वस्तु समझें। यहाँ आपको कोई रंग-राग या तमाशा दिखने को नहीं मिलेगा। आप तो इसे मेरी आँखों से देखें। यह नहीं कि किसी 'महात्मा' की आँखों से आप देखें। मैं तो एक देहाती हूँ, एक प्राकृत मनुष्य हूँ। इसलिए आप तो इस ग्रामोद्योग

प्रदर्शिनी को मेरे जैसे एक देहाती और प्राकृत मनुष्य की ही आँखों से देखें।

"कोई भी चार बार देखने की फीस १) देकर यहाँ चार सबक़ सीख सकता है। पत्थर के ऐनक होते हैं, यह आपने सुना ही होगा। यहाँ तो आप पत्थर के ऐनक बनते हुए देखते हैं। यह काम आप और कहाँ सीखने जाएँगे ? पर यह तो कुछ मुश्किल-सा काम है। यहाँ कागज भी बनता है। कागज़ का हुनर कितनी तरक्क़ी कर गया है, यह देखकर आप हैरान हो जायँगे। कागज़ तो दस बरस का लड़का भी बनाना चाहे तो बना सकता है। कागज़ बनाना यहाँ आप अच्छी तरह ध्यान से देख जायँ तो अपने घर जाकर इस धन्धे को शुरू कर सकते हैं। आप तो यहाँ एक-से-एक नई चीज़ क़दम-क़दम पर देखेंगे; और देखकर चकित हो जायँगे।

"पश्चिम से आई हुई हरेक चीज़ में हम चमत्कार देखने के तो कुछ आदी-से हो गये हैं। पर आप चमत्कार ही देखना चाहें तो आप यहाँ भी देख सकते हैं। इससे भी छोटी प्रदर्शिनी अगर मैं लगाऊँ तो मैं तो उसमें भी चमत्कार दिखा सकता हूँ। यहाँ एक कुम्हार की दुकान पर मट्टी की छोटी-छोटी सुन्दर चीज़ें देखकर मैं तो हैरान होगया। स्याही रखने के लिए मैंने दूकान से एक छोटी-सी सुन्दर दावात ख़रीदी है। मैं समझ रहा था कि उसकी क़ीमत छः-सात आने होगी। पर जब मुझसे कहा गया कि वह तो पैसे की है, तो मेरे अचरज का पार न रहा। आप तो उसे देखकर शायद यह कहेंगे कि वह जर्मनी या जापान की बनी हुई तो नहीं है ? पर वह तो देहात की बनी हुई चीज़ है। इसे आप चमत्कार नहीं कहेंगे तो किसे कहेंगे ? ऐसे-ऐसे चमत्कार आप यहाँ पायँगे। हाड़-पंजरों के देश उड़ीसा को

तो आप जानते ही होंगे ? अस्थि-कंकालों के उस भुखमरे दरिद्र देश से भी कुछ कारीगर यहाँ आये हुए हैं। उनकी बनाई हुई हाथी-दाँत की, सींग की और चाँदी की चीज़ों को आप जाकर देखिए। कैसी चमत्कारी चीज़ें हैं। यही नहीं कि वे चीज़ें यहाँ बनी-बनाई रखी हैं, वे किस तरह बनाई जाती हैं, यह भी आप जाकर देख सकते हैं। आप देखें कि हाड़-पंजरों तक में बसनेवाली मनुष्य की आत्मा किस तरह निर्जीव सींगों और धातुओं में प्राण डाल सकती है। एक बहिन ने उस दिन कृष्ण की हाथी-दाँत की बनी एक छोटी-सी मूर्ति ख़रीदी। वह भगवान् कृष्ण को पूजनेवाली नहीं थी। पर अब वह मुझसे कहती है कि वह उस सुन्दर सलोनी मूर्त्ति की पूजा करने लगी है। क्या इसे आप चमत्कार नहीं कहेंगे ?

"पर हमारी आदत कुछ ऐसी बिगड़ गई है कि आँखों के सामने ही जो चमत्कार हो रहे हैं वे हमें नगण्य-से लगते हैं, और बाहर की चीजों में कला-ही-कला दिखाई देती है। यूरोप के किसी चश्मे से एक अजीब-से नाम का पानी यहाँ आता है वह हमारे लिए जादू-जैसा चमत्कारी असर पैदा करनेवाला हो जाता है। कहते हैं, कि वह हाज़मे के लिए एक ही होता है। और हमारा पवित्र गंगा-जल, जो कहीं अधिक शोधक और प्रकृति से ही कीटाणु-नाशक होता है, हमें एक गन्दे पोखरे के पानी से कुछ अधिक अच्छा नहीं जँचता।"

"यह तो आप देख ही रहे हैं कि त्रावणकोर, कटक, काश्मीर आदि कितनी-कितनी दूर से यहाँ कारीगर आये हुए हैं। ये बेचारे तो अपनी कलाओं का प्रदर्शन करके कुछ पैसा पैदा करने के लिए ही आये हैं। इसलिए जिन्हें भगवान ने पैसा दिया है, उन्हें यहाँ कोई-न-कोई चीज़ तो ख़रीदनी ही चाहिए। यह बात नहीं कि यहाँ एक पैसे की चीज़

के दो रुपये लिये जाते हैं। हाँ, यह दूसरी बात है कि आप किसी चीज़ पर मुग्ध होकर उसपर दो रुपये न्योछावर कर दें। जो चीज़ आप यहाँ लेंगे उसका पैसा किसी धनी या बीचवाले आपकी जेब में नहीं जायगा। वह तो उस ग़रीब देहाती की जेब में जायगा, जिसके कि हम सब देनदार हैं। हम लोग देहातियों पर जी रहे हैं। देहातियों को शहरवाले चूस रहे हैं, इस शोषण का कुछ-न-कुछ बदला तो हमें देना ही चाहिए। शहरवालों और देहातियों के बीच जो भारी खाई है, उसपर पुल तो बँध गया है, देरी तो हम दोनों के मिलने-भर की है। यह मिलाप ग्रामोद्योगों को अपनाने से ही होगा। यह कोई दान देने की बात नहीं है, मैंने तो यह शुद्धि बनियापने की बात कही है। जो ये चीज़ें खरीदें वे भी 'वाह-वाह' कहते जायँ, और काश्मीर, त्राव-णकोर, कटक आदि से जो कारीगर आये हैं, वे भी जब अपने-अपने घर जायँ, तो कहें कि 'वाह ! लखनऊ में हमारी चीजों की कितनी अच्छी क़द्रदानी हुई।' मेरी इन बातों को आप दिल में लिख लें तो मैं यह मान लूँगा कि मेरे व्याख्यान की भी फीस मुझे मिल गई है।"

ह० से० १८-४-३६

: २४ :

# ग्रामवासियों को प्रदर्शिनी

[ २५ दिसम्बर को फ़ैज़पुर में खादी तथा ग्राम-उद्योगों की प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते समय गाँधीजी ने जो भाषण दिया था, उसका सारांश में नीचे दे रहा हूँ। अखबारों में २७ तारीख के भाषण की तरह, जो और भी महत्त्वपूर्ण था, इस भाषण की भी सभी तरह की रिपोर्टें आई हैं, और उनके शब्दों का ही नहीं, बल्कि उनके हाव-भावों तक का तरह-तरह का अर्थ लगाया गया है। २५ तारीख का भाषण देते समय वह ऐसे गम्भीर नहीं थे और वह छोटे-छोटे विनोदों से भरा हुआ था। बोलते जाते थे और एक के बाद दूसरी चीज़ उठा-उठाकर लोगों को दिखाते जाते थे। एक आदमी गाँधीजी के हाथ में लोमड़ी का जो चमड़ा था उसे नहीं देख सका। उसने वहीं से चिल्लाकर कहा, "कृपा कर आप अपना हाथ तो बतलाइए" गाँधीजी ने तुरन्त जवाब दिया, "ज़रा ठहरिए, मैं अभी ठीक तरह से बतलाता हूँ"—मतलब यह कि उस चमड़े को वह अभी थोड़ी देर में बेचनेवाले हैं और उसकी अच्छी क़ीमत माँगेंगे। दरअसल मुनाफ़े की इस मज़ेदार फरोख्त के लिए समय नहीं बचा था, जिससे फिर उसे छोड़ ही देना पड़ा। पर इस वाक्य का अर्थ यह लगाया गया कि वह कोई रहस्य अपने अन्दर छिपाये हुए हैं। 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' की एक रिपोर्ट में आया है कि "जिनका यह खयाल है कि मि० गाँधी की ताक़त खाली होगई है, वे ग़लती पर हैं; वह अब भी कोई रहस्य अपने अन्दर छिपाये हुए हैं। लोगों ने ज़ोरों से तालियाँ पीटीं, जबकि

उन्होंने इत्तिफ़ाक़न् यह कहा 'मैंने अब भी अपना हाथ नहीं दिखाया। ठहरिये, जबतक कि मैं इसे दिखा न दूँ।'" कोई रहस्य की चीज़ तो थी नहीं, क्योंकि वह कोई गोप्यवस्तु रखते ही नहीं। म० दे० ]

## मेरी कल्पना और मेरी ज़िम्मेदारी

अख़बारों में आप लोगों ने यह तो देखा ही होगा कि गाँव में कांग्रेस का जो यह अधिवेशन हो रहा है, इसके लिए मैं ही सब तरह से जिम्मेदार हूँ। उन्होंने यह भी घोषित कर दिया था कि मैं दिसम्बर के शुरू में फ़ैज़पुर पहुँच जाऊँगा और प्रदर्शिनी सम्बन्धी सारी व्यवस्था की निगरानी करूँगा। यह पिछली बात सही है, और बग़ैर किसी झूठे शील-संकोच या अतिशयोक्ति के, मैं यह कहूँगा कि आप जो भी यहाँ त्रुटियाँ देख रहे हैं, उनके लिए मैं ही पूरी तरह से ज़िम्मेदार हूँ, कांग्रेस और नुमाइश को गाँव में करने की कल्पना मैंने ही आगे रक्खी थी, इसलिए जो भी दोष या त्रुटियाँ आप यहाँ देखेंगे उनकी जिम्मेदारी अपने ऊपर मुझे लेनी ही चाहिए। और कोई भी अच्छी चीज़ जो आप यहाँ देखें उसका श्रेय उन लोगों को है जिन्होंने कि यहाँ यह सारी व्यवस्था की है। गाँव में कांग्रेस और प्रदर्शिनी करने की मेरी तजवीज़ दास्ताने और देव ने स्वीकार की थी, और परिपूर्णता और दृढ़ निश्चय के साथ, जो कि महाराष्ट्रों के चारित्र्य की विशेषता है, उन्होंने अपने वचन का पालन भी किया है। प्रदर्शिनी का तो मेरी कल्पना के अनुसार होना आवश्यक था, क्योंकि चर्खा-संघ ने, जिसका कि मैं अध्यक्ष हूँ, और ग्राम-उद्योग-संघ ने, जिसे कि मैं अपने पथ-प्रदर्शन में चला रहा हूँ, उसका सारा आयोजन किया है। मुझे इस बात के लिए उन्हें आगाह करना पड़ा कि

महाराष्ट्र के इस गाँव में वे लखनऊ या दिल्ली बनाने का ख़याल छोड़ दें। अगर यही करना है तो फिर पूना में कांग्रेस और नुमाइश क्यों न की जाय? पर अगर गाँव में कांग्रेस और नुमाइश करनी है तो भारतीय गाँव के मुताबिक़ ही उन्हें सारा आयोजन करना चाहिए। और मुझसे अच्छा यह काम और कोई नहीं कर सकता था, क्योंकि जैसा कि मैंने उनसे कहा था, मैं मुद्दत से ग्रामीण रहा हूँ, जबकि वे हाल ही में ग्रामीण बने हैं। सेगाँव में बसे हुए बेशक मुझे अभी चन्द महीने हीं हुए है, और मेरा जन्म और मेरा पालन-पोषण चूंकि एक कस्बे में हुआ, शिक्षा भी असल में मैंने कस्बे में ही पाई, इस खुद अपने-आप ग्रामीण जीवन के मुआफ़िक बनाने में मेरे शरीर को कठिनाई मालूम पड़ी। इसीसे मुझे वहाँ मलेरिया आगया। लेकिन, जैसाकि आप जानते हैं, मैंने उसे तुरन्त भगा दिया, जल्दी अच्छा होगया, और अब सब ठीक तरह से चल रहा है। दरअसल कुछ सबब तो इसका यह है कि अब मैं निश्चिन्त हूँ, अपनी तमाम चिन्ताओं का भार जवाहरलाल और सरदार के विशाल कन्धों पर छोड़ दिया है। फिर भी मुझे अपने स्वास्थ्य के सच्चे रहस्य को कबूल करना ही चाहिए, और वह यह कि मेरा शरीर वहीं ठीक रहता है, जहाँकि मेरा दिल रम जाता है।

## कलाकार नन्दलाल बोस

यहाँ को रचना का श्रेय शिल्पी म्हात्रे और कलाकार श्री नन्द-लाल बोस को है। दो महीने हुए कि जब नन्दो बाबू मेरे बुलाने पर वर्धा पहुँचे तो मैंने उन्हें समझाया कि मैं असल में क्या चाहता हूँ, और अपनी कल्पना को मूर्त्तरूप देना मैंने उन्हीं पर छोड़ दिया।

कारण कि वह एक कलाकार हैं, और मैं नहीं हूँ। ईश्वर ने मुझे कला की भावना तो दी है, पर उसे मूर्त रूप देने की प्रतिभा मुझे प्रदान नहीं की है। नन्दलाल बोस को ईश्वर ने ये दोनों ही चीज़ें बख़्शी हैं। मैं उनका आभार मानता हूँ, कि प्रदर्शिनी की कलापूर्ण रचना का सारा भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और खुद ही हरेक चीज़ की ठीक-ठीक व्यवस्था करने के लिए वह कुछ हफ्ते पहले यहाँ आकर बैठ गये। फल यह हुआ कि सारा तिलकनगर स्वतः एक प्रदर्शिनी बन गया है, और इसीलिए प्रदर्शिनी वहाँ से शुरू नहीं होती, जहाँकि मैं उसे खोलने जा रहा हूँ, बल्कि मुख्य प्रवेश-द्वार से उसका आरम्भ होता है, जो कि ग्रामीण कला का एक सुन्दर नमूना है। निस्सन्देह श्री म्हात्रे के भी हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने कि सारी ही आयोजना पूर्णता को पहुचाने में कुछ उठा नहीं रक्खा है। कृपा कर यह याद रखिए, कि यहाँ यह जो तमाम कलात्मक रचना दिखाई देती है, इसमें हमारे नन्दो बाबू ने स्थानीय साधन-सामग्री और यहींके मज़-दूरों से सारा काम लिया है।

## यह कोई तमाशा नहीं है

अब मैं चाहता हूँ कि आप लोग प्रदर्शिनी में जायँ, और सम्भव हो तो उसे मेरी आँखों से देखें। अगर आप यह देखेंगे कि चर्खा-संघ और ग्रामोद्योग-संघ की संरक्षता में उसका आयोजन किया गया है तो आपको मालूम हो जायगा कि वहाँ आपको क्या देखने को आशा करनी चाहिए। चर्खा-संघ का उद्देश्य सारे हिन्दुस्तान को खादीमय बना देना है, जिस मक़सद तक दुर्भाग्य से हम अबतक नहीं पहुँचे हैं, और वह अब भी हमसे दूर है। और ग्राम-उद्योग

संघ का उद्देश्य भारतवर्ष की मरती हुई दस्तकारियों का पुनरुद्धार करना है। खादी तथा ये दूसरे गृह-उद्योग हमारे गाँवों की आर्थिक उन्नति के लिए इतने ज़रूरी हैं, जितने कि शरीर के लिए प्राण।

यह नुमाइश कोई तमाशे की चीज़ नहीं है, लोगों की आँखों को चौंधियाने या भुलावे में डालने के इरादे से यह नुमाइश नहीं लगाई गई है। यह असली ग्राम-प्रदर्शिनी है, जो गाँववालों के परिश्रम से तैयार की गई है। यह शुद्ध शिक्षणात्मक प्रयत्न है। ग्रामवासियों को यह दिखलाना ही इसका एकमात्र उद्देश्य है कि अगर वे अपने हाथ और पैरों तथा अपने आस-पास की साधन-सामग्री का ठीक-ठीक उपयोग करें तो वे किस प्रकार अपनी आमदनी को दुगुना कर सकते हैं। मैं तो अपने राष्ट्रपति से यह कहूँगा कि वे मुझे संयुक्तप्रान्त के किसी गाँव में ले चलें। उस गाँव की पुनर्रचना में जमनालालजी के रुपये से नहीं, बल्कि उस गाँव के मर्दों और औरतों के हाथ-पैरों की सहायता से करूँगा--बशर्ते कि उस गाँव के लोगों को मैं जो हिदायतें दूँ, उनके अनुसार काम करने के लिए वे उन्हें राज़ी करलें। हमारे राष्ट्रपति इसपर शायद यह कहें कि ज्योंही ये ग़रीब आदमी अपनी आमदनी को कुछ बढ़ाना शुरू करेंगे, त्योंही जमनालालजी जैसे ज़मींदार लगान में इजाफ़ा कर देंगे और इस तरह उनके हाथ से उनको वह ज़ायद आमदनी छीन लेंगे। हम इस तरह का काम जमींदार को नहीं करने देंगे। मेरे मन में ज़रा भी सन्देह नहीं कि हमारे हिन्दुस्तान-जैसे देश में, जहाँ लाखों बेकार आदमी भरे पड़े हैं, वहाँ इस गरज़ से कि वे ईमानदारी के साथ अपनी रोज़ी कमा सकें, उनके हाथ और पैरों को किसी-न-किसी काम में लगाये रखना ज़रूरी है। खादी और गृह-उद्योग उनके लिए आवश्यक हैं। मेरे लिए

यह सूर्य-प्रकाश की भाँति स्पष्ट है कि इन उद्योगों की आज सख़्त ज़रूरत है। भविष्य में उनका क्या होगा, यह मैं नहीं जानता, न जानने की चिन्ता ही करता हूँ। (इसके साथ, वे प्रदर्शिनी की कुछ चीज़ों का, जो उनके सामने रक्खी हुई थीं, वर्णन करने लगे—जैसे, लुहारख़ाने के औज़ार जो रात को तैयार किये गये थे; आन्ध्र के कारीगरों की बनाई हुई चीज़ें जैसे, बटुवे और चश्मे के केस, जो नदी किनारे उगनेवाली एक घास से तैयार की गई थी; लोमड़ी का चमड़ा, जो वर्धा के चर्मालय में पकाया गया था और खादी का उसमें अस्तर लगाया गया था, वग़ैरा-वग़ैरा) ये छोटी-छोटी चीज़ें गरीब ग्राम-वासियों की आमदनी को बढ़ा सकें, आप उन्हें यक़ीन करा सकें कि तीन पैसे रोज़ के बजाय, जो आज उन्हें मिलते हैं, वे तीन आने रोज पैदा कर सकेंगे, तो उन्हें स्वराज्य मिल गया, ऐसा वे सोचने लगेंगे। कत्तिनों के लिए खादी यही करने का तो आज प्रयत्न कर रही है।

## ग्राम-प्रदर्शिनी

संक्षेप में कहा जाय तो उनको यह सिखाना है कि धूल से कञ्चन किस तरह बन सकता है, और उन्हें यह सिखाना ही इस प्रदर्शिनी का मक़सद है। दो महीने पहले जब मैं नन्दो बाबू से मिला, तब उनसे मैंने कह दिया था, कि आप यहाँ शान्ति-निकेतन से अपने आर्ट स्कूल के क़ीमती चित्र न लाइएगा, डर यह है कि बे-मौसम की बारिश से वे चित्र कहीं ख़राब न होजायँ। उन्होंने मेरी सलाह मान ली और यहींके पास-पड़ोस से ही उन्होंने ये सारी चीज़ें इकट्ठी की हैं। उन्होंने अपनी कलाकार की दृष्टि से आस-पास के गाँवों में चक्कर

लगाया, और किसानों की गिरिस्ती में से वे अनेक चीज़ें चुन लाये— ऐसी चीज़ें, जिनमें मामूली आँख को कोई आश्चर्यजनक कला नहीं दिखाई देगी, पर उनकी आँख तो कलाकार की सूक्ष्मदर्शी आँख है, उन्होंने उन चीज़ों को यहाँ खूबसूरती के साथ सजा दिया है और उन्हें एक नया ही रूप दे दिया है।

पहले की प्रदर्शिनियों के मुक़ाबिले में यह प्रदर्शिनी बहुत छोटी है, इसके लिए श्री वैकुण्ठलाल मेहता ने माँफी मांगी है, पर माँफी मांगने की ऐसी कोई बात नहीं थी। इस प्रदर्शिनी में कोई चीज़ फ़जूल नहीं है। हाथ के बने काग़ज़ के ही नमूनों को ही ले लीजिए। ये काग़ज़ मूँज से, केले की छाल से, और बाँस से तैयार किये गये हैं; आप यहाँ जो सारा नगर देख रहे हैं, इसकी बनावट में बांस का भाग मुख्य है; और आप यह यक़ीन रक्खें कि कांग्रेस कैम्प उखड़ने के बाद इस तमाम बाँस के अच्छे दाम मिल जायँगे।

## यह तो एक तीर्थ स्थान है

हमारे राष्ट्रपति के लिए जिस प्रकार के जलूस का आयोजन किया गया था, उसकी वह अनोखी सादगी आपने ज़रूर देखी होगी—ख़ास करके वह सुन्दर सजा हुआ रथ, जिसमें छः जोड़ी बैल जुते हुए थे। आपको यहाँ क्या मिलनेवाला है इस बात के लिए आपको तैयार करने की ग़रज़ से ही इस प्रकार का यह सब आयो-जन किया गया था। शहर की जैसी कोई खूबी या आराम यहाँ आपको नहीं मिलेगा, यहाँ तो आपको ऐसी ही चीज़ें मिलेंगी, जिन्हें कि गाँव के ग़रीब आदमी मुहैया कर सके हैं। इस तरह यह जगह हम सबके लिए, एक तीर्थ-स्थान बन गई है—यह हमारी काशी है,

यह हमारा मक्का है, जहाँ हम स्वतन्त्रता देवी के चरणों पर प्रार्थना-कुसुमांजलि चढ़ाने और राष्ट्र की सेवा के लिए अपने को उत्सर्ग करने आये हैं। आप लोग यहाँ ग़रीब किसानों पर हुकूमत जतलाने नहीं आये हैं, बल्कि यह सीखने के लिए आप यहाँ आये हैं कि उनके रोज़मर्रा के मशक्कत के कामों में भाग लेकर—जैसे, भंगी का काम करके, अपने कपड़े वग़ैरा खुद धोकर और अपना आटा खुद पीसकर, आप उनका भार किस तरह हलका कर सकते हैं। कांग्रेस के इतिहास में यह पहला ही मौक़ा है कि आपको यहाँ बिना पालिश का अनकुटा चावल और हाथ के पिसे आटे की रोटियाँ भोजन में दी जारही हैं। चाहे जितनी ताज़ी हवा और स्वच्छ पृथवी माता की गोद तो है ही, जहाँ आप सुख से आराम कर सकते हैं। पर कृपा कर ग़रीब व्यवस्थापकों की तमाम त्रुटियों का ख्याल रखियेगा, क्योंकि खाँसाहब के शब्दों में हम सब 'खुदाई ख़िदमतगार' हैं, हम यहाँ सेवा लेने के लिए नहीं, किन्तु सेवा देने के लिए आये हैं।

ह० से० २-१-३७

: २५ :

# एक आध्यात्मिक प्रवचन

[ गांधीजी के फैजपुर में दो भाषण हुए। एक तो हुआ २५ तारीख को प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते समय, जो प्रासगिक विनोदयुक्त था। और दूसरा २७ तारीख़ को। यह भाषण इतने अधिक महत्त्व का था कि मैंने उसे नीचे अक्षरशः उतारने का प्रयत्न किया है। अक्षरशः उतारने का कारण यह है कि इसके खासे अनर्थ हुए हैं। कोई कहता है कि इसमें गाँधीजी का पुण्य-प्रकोप था, किसीका कहना है कि गाँधीजी ने राज-नीति में फिर से आने का यह मंगलाचरण किया है, कोई कहता है कि गाँधीजी ने लार्ड लिनलिथगो को चुनौती दी है। इसमें न प्रकोप था, न वर्त्तमान राजनीति में फिर से आने की बात थी, और न किसी भी प्रकार का आह्वान था। इसमें तो उनके सुदर्शनचक्र—चरखे—विषयक पुराने विश्वास का पुनरावर्तन था, और उस विश्वास के पीछे रहनेवाली अकाट्य तर्क-भूमिका। इस भाषण में किसी पैग़म्बरी वाणी से उच्चारित आर्ष-दर्शन था। यह वाणी सुनने की चीज़ है, स्याही द्वारा काग़ज़ पर इसे किस तरह उतारा जाय ? फिर भी यह स्याही-काग़ज़ का खोखा भी पाठकों को प्राण-रहित प्रतीत नहीं होगा, ऐसा विश्वास है।—म० दे० ]

## मानव-मेदिनी

**यह भाषण ८॥ बजे रक्खा गया था, पर उसके बदले इतनी देरी से ९। बजे शुरू हुआ है, इसके लिए मुझे दुःख हो रहा है। मगर दूसरा**

उपाय था नहीं। यहाँ इतने अधिक मनुष्य आये हैं, और हमारी प्रदर्शिनी तो कच्चे बाँस की टट्टियों की बनी हुई दीवारों की है, तमाम आदमी एक साथ पिल पड़ें तो टट्टियाँ टूट-टाट जायँगी। इसलिए इनकी रक्षा के लिए भी व्यवस्था करने की ज़रूरत पड़ी और व्यवस्था करनेवालों का उसमें कुछ समय चला गया। ये लोग इतने तमाम आदमियों के एक साथ पिल पड़ने के लिए तैयार नहीं थे। यहाँ मेरा भाषण रखने में आपको थोड़ी चालाकी मालूम होगी, पर ऐसा इरादे से ही किया गया है। और कुछ नहीं तो लोग मेरा भाषण सुनने के लिए तो आयेंगे ही और उसकी खातिर दो आने प्रदर्शिनी को भी देंगे, ऐसा करते हुए भूल में ही अगर वे थोड़ी-सी खादी ले लें और थोड़ी ग्राम-कला भी देख लेंगे तो उन्हें अनायास ही थोड़ा-सा पुण्य मिल जायगा, और मुझे भी मिल जायगा।

आपने देखा होगा कि यह समूचा तिलकनगर ही प्रदर्शिनी है। इसका श्रेय बाबू नन्दलाल बोस को है। उन्होंने निश्चय किया कि प्रदर्शिनी और काँग्रेस के लिए एक ही व्यवस्था रक्खी जाय। इसमें ख़र्च बहुत थोड़ा हुआ है। इतने कम ख़र्च में किसी भी काँग्रेस-नगर की रचना हुई होगी यह मैं नहीं जानता। हाँ, अब भी कुछ ख़र्च मेरी दृष्टि से अधिक हुआ है; पर यह तो गाँव में होनेवाली पहली काँग्रेस है न? ज़मीन लेने में ख़ासा ख़र्च करना पड़ा। पर हमने इतना तो किया है कि इसके बाद के काँग्रेस-अधिवेशन गाँव में करने का हमें प्रोत्साहन मिलेगा। आप देखते हैं कि लोग उमड़ते ही चले आ रहे हैं। स्वयंसेवक इतने अधिक हैं, तो भी ऐसा लगता है, मानो इस भारी जन-समूह में वे बिला गये हों। भोजन करनेवाले इतने अधिक आते हैं कि उनका प्रबन्ध करना कठिन होगया है।

## पुरानी बात का पुनरावर्त्तन

यह तो प्रस्तावना हुई। आज मैं आप लोगों को कोई नई बात सुनाने नहीं आया हूँ। पहले जो कहता था, उसका पुनरावर्त्तन ही करूँगा। चर्खा-संघ को, या यों कहिए कि खादी को १८ वर्ष हो गये हैं। ग्राम-उद्योग-संघ का जन्म इसकी छाया में हुआ, और उसे दो वर्ष हुए हैं। जब खादी का आरम्भ हुआ, तब लोगों के आगे मैंने अपना यह विश्वास प्रकट किया था कि चर्खे से स्वराज्य मिलेगा, सूत के धागे से हम स्वराज्य लेंगे। उस समय यह कितने ही लोगों को पागलपन की बात मालूम हुई होगी। मुझे तो आज भी इसमें कोई पागलपन की बात मालूम नहीं होती। स्वराज्य, पूर्ण-स्वराज या मुकम्मिल आज़ादी के मानी ये हैं कि हमारे ऊपर कोई भी विदेशी सल्तनत राज न करे। यह आज़ादी चार बाजू की होनी चाहिए। इसमें अर्थ-सिद्धि होनी चाहिए। अर्थ-सिद्धि का मतलब यह है कि लोग उसमें भूखों न मरें। इसका अर्थ यह नहीं कि रूखी-सूखी रोटी सब को मिलती जाय। इसका अर्थ तो यह है कि हम सुख से रहें और रोटी के साथ हमें घी भी मिले, और दूध और साग-भाजी भी मिले, जो गोश्त खाना न छोड़ सकते हों उन्हें गोश्त भी मिले। इसके बाद पहनने के लिए भी मेरे जैसा कच्छ या लंगोटी नहीं, किन्तु गृहस्थों के जैसे वस्त्र मिलें—पुरुषों को अंगरखा, कुर्त्ता, साफ़ा, वग़ैरा और स्त्रियों को पूरी साड़ी और दूसरे कपड़े(आज जिस फ़ैशन की पोशाक की चलन है वैसी तो नहीं; पर हाँ, पुराने ज़माने में गृहस्थ जैसे कपड़े पहनते थे, और जिनके नमूने आप इस प्रदर्शिनी में देखेंगे, वैसे सुन्दर कपड़े ज़रूर मिलने चाहिएँ।)

## 'सभी भूमि गोपाल की'

दूसरी है राजनैतिक आज़ादी। यह भी भारतीय होनी चाहिए। यह यूरोपीय नमूने की न हो, ब्रिटिश पार्लमेण्ट या सोवियट रशिया या इटली का नमूना मैं कैसे लूँ ? मैं किसका अनुकरण करूँ ? मेरी राजनैतिक आज़ादी इस प्रकार की नहीं होगी, वह तो भारत-भूमि की रुचि की होगी। हमारे यहाँ स्टेट तो होगी, पर कारबार किस प्रकार का होगा, यह मैं आज नहीं बता सकता। गोलमेज़ कान्फ्रेंस में मैंने यह कहने की धृष्टता की थी कि अगर आपको हिन्दुस्तान के लिए राजकीय विधान का नमूना चाहिए तो काँग्रेस का विधान ले लीजिए। इसे मेरी धृष्टता भले ही कहें। पर मेरी कल्पना के अनुसार तो इसमें ग़रीब और अमीर दोनों एक झंडे की सलामी करते हैं। पंच कहें सो परमेश्वर! इसलिए हमारे यहाँ के भलेमानस हिन्दुस्तान को जानने-वाले करोड़ों मनुष्य जैसा तन्त्र चाहते हों वैसे की हमें ज़रूरत है। यह राजनैतिक आज़ादी है। इसमें एक आदमी का नहीं, बल्कि सब का राज्य होगा। मैं सोशलिस्ट भाइयों से कहूँगा कि हमारे यहाँ तो—

सभी भूमि गोपाल की, वा में अटक कहाँ ?
जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा।

इस सूत्र को युगों से मानते आरहे हैं। इसलिए यह भूमि ज़मींदार की नहीं, मिल-मालिक की नहीं, या ग़रीब की नहीं, यह तो गोपाल की है—जो गायों का पालन करता है उसकी है। गोपाल तो ईश्वर का नाम है, इसलिए यह भूमि तो उसकी है। हमारी तो कही ही नहीं जा सकती। यह न ज़मींदार की है और न मेरे जैसे लंगोटिये की। यह शरीर भी हमारा नहीं, ऐसा साधु-सन्तों ने कहा है। यह शरीर नाशवान् है, केवल एक आत्मा ही रहनेवाली है। यह सच्चा

सोशलिज़्म है। इसपर हम अमल करने लग जायँ, तो हमें सब-कुछ मिल गया। इस सिद्धान्त का अनुकरण करनेवाला आज कोई दीख नहीं रहा है, तो इसमें सिद्धान्त का दोष नहीं, दोष हमारा है। मैं इसकी व्यावहारिकता बिल्कुल शक्य मानता हूँ।

## चार समकोण

स्वराज्य का तीसरा भाग नैतिक या सामाजिक स्वतन्त्रता का है। नैतिक और सामाजिक को मैं मिला देना चाहता हूँ। या तो हमारा स्वराज्य चक्र होना चाहिए या चतुष्कोण। मेरी कल्पना शुद्ध चतुष्कोण की है। इसके दो समकोण मैंने कह दिये हैं। यह तीसरा है। इस तीसरे में प्राचीनकाल से हमें जो नीति मिलती आ रही है वह नीति है—सत्य और अहिंसा की। चौथा कोण धर्म का है, क्योंकि धर्म के बिना ये तीनों पाये खड़े नहीं रह सकते। कोई अगर कहे कि मैं तो सत्य को मानता हूँ, तो मैं उससे कहूँगा कि तुम सत्य को मानते हो तो खुदा को क्यों नहीं? मैं तो कहता हूँ कि अगर मैं सत्य को मानता हूँ तो भगवान को भी मानता हूँ। कारण, भगवान का नाम ही सत्यनारायण है। मेरा सत्य तो जीवित है, वह ऐसा जीवित है कि दुनिया में जब सब मिट जायगा तब यही एक रहेगा। सिक्ख 'सत् श्री अकाल' कहते हैं, गीता कहती है कि सत् का नाम लेकर सब काम आरम्भ करो; कुरान कहता है कि खुदा एक है। इस प्रकार सत् को माननेवाले हम सब एक दूसरे के गले क्यों काटें? मुसलमान हिन्दुओं के गले काटें, हिन्दू मुसलमान के गले काटें, सिक्ख दोनों के काटें, और ईसाई तीनों के गले काटें, यह बात ईश्वर को माननेवालों से तो हो ही नहीं सकती।

इस तरह चारों कोनों को हमें एक-सा सम्हालना है, यह सब ९० अंश के समकोण हैं। इन चारों कोणों से बने हुए स्वराज्य को आप स्वराज कहिए; मैं इसे रामराज्य कहूँगा।

## धारा-सभा का कार्यक्रम

अठारह वर्ष पहले मैंने कहा था कि यह स्वराज्य सूत के तार पर अवलम्बित है। वही मन्त्र मैं आज भी बोल रहा हूँ। उसका स्मरण आज भी करा रहा हूँ। यह बात नहीं कि धारा-सभा के कार्यक्रम को मैं मानता नहीं हूँ। इसे एक बार नष्ट करने के लिए मैंने कहा था, और डा० अन्सारी साहब के साथ मिलकर इसके सजीवन में भी मेरा हाथ है। इसे सजीवन इसलिए करना पड़ा, क्योंकि मैंने देखा कि इसके बिना हम अपना काम चला नहीं सकते। पर यह कार्यक्रम आप लोगों के लिए नहीं है और न मेरे लिए है। हम सब कौंसिलों के अन्दर जायँगे तो वहाँ समायेंगे कहाँ? हमारे देश की ३५ करोड़ की आबादी में एक हज़ार या पन्द्रह सौ देश-सेवक भले कौंसिलों में चले जायँ। पर उन लोगों को हुक्म तो हमें ही देना होगा। हमारी कॉंग्रेस के कुछ प्रतिनिधि वहाँ रहेंगे, पर उन्हें वहाँ भेजने की राय देने का हक़ तो सब को नहीं है। मुझे भी वोट देने का हक़ नहीं। मुझे तो ६ वर्ष की सज़ा हुई थी, इसलिए मैं नापास समझा जाता हूँ। ३५ करोड़ में से ३१॥ करोड़ को मत देने का हक़ नहीं। उनके साथी ही मैं रहूँ यह अच्छा है न? बोलिये, आप क्या कहते हैं? (आवाज़ "३१॥ करोड़ के साथ") बहनों! आप क्या कहती हैं? (आवाज़—"हमारे साथ।") आपके साथ तो हूँ ही। जिस माता की गोद में खेला, जिस माता का दूध पिया, उन माताओं के कन्धे के ऊपर कैसे

बैठूँगा ? उनके तो चरणों के आगे रहूँगा, उनकी सेवा करूँगा।

अब जो ३॥ करोड़ मत देनेवाले बचे, उनमें से कितने धारा-सभाओं में जायँ ? पन्द्रह सौ जगहों के लिए हम लड़ें तो यह कहा जायगा कि हमने स्वराज का क़त्ल कर दिया। कहते हैं, कि आज ऐसा क़त्ल होरहा है। धारा-सभा का कार्यक्रम शरीफ़ आदमियों के लिए ही होना चाहिए। लेकिन गन्दे आदमी वहाँ घुस जायँ तो क्या करेंगे ? पर ख़ैर, यह तो हुआ। जिन्हें मत नहीं देना है, वे ३१॥ करोड़ क्या करेंगे ? उनके लिए तो सिवा रचनात्मक कार्यक्रम के दूसरा कुछ है ही नहीं।

जो धारा-सभाओं में जायँगे वे वहाँ कितना काम कर सकेंगे यह बतला दूँ। हिन्दुस्तान में जो आर्डिनेन्स का राज्य चलता है उसमें कांग्रेस के भी प्रतिनिधि शामिल थे, इतिहास में अगर यह न कहा गया तो काफ़ी है। कोई गन्दा मनुष्य भी बतौर हमारे प्रतिनिधि के चला जायगा, पर मत तो उसका हमारे पक्ष में ही पड़ेगा। प्रतिनिधि आर्डिनेन्सों का बचना रोक नहीं सकते, जवाहरलाल को जेल जाने या फाँसी पर चढ़ने से वे रोक नहीं सकेंगे। और वह तो फाँसी के तख्ते पर भी बहादुरी से चढ़ेंगे, और हँसते-हँसते चढ़ेंगे। पर उन्हें जो भी सज़ा मिले उसके लिए कांग्रेस के प्रतिनिधियों की मंजूरी नहीं मिलेगी। सुभाष बोस को शायद बंगाल के प्रतिनिधि छुड़ालें, और सम्भव है कि शायद यह भी वे न कर सकें। पर इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि कोई भी अनुचित बात कांग्रेसवालों के हाथ से नहीं होगी। किसी भी गन्दी बात में हमारा वोट नहीं मिलेगा। आर्डिनेन्स राज्य का अर्थ है, जैसा बादशाह कहे वैसा करना। ऐसे राज्य को हमारे प्रतिनिधियों की मंजूरी नहीं मिलेगी।

## आज़ादी नहीं दिला सकते

लेकिन ये प्रतिनिधि हमें आज़ादी नहीं दिला सकते। वह तो सूत के तार से ही मिलेगी। सूत का तार छोड़ा और आज़ादी का जाना शुरू हुआ। इसमें अंग्रेज़ों का अपराध तो था ही; पर हम भी पागल बन गये। हमने चर्खा छोड़ दिया, हमने विलायत से आनेवाला कपड़ा लेना शुरू कर दिया। इसलिए हमारे देश में लोगों के हाथ में कुछ भी काम नहीं रहा और करोड़ों मनुष्य बेकार होगये। अगर दूसरे किसी भी उपाय से हमारे आदमी बेकार न रहें, सबको खाने-पीने को मिलने लगे, और सब आराम से रह सकें, तो हम खुशी से लंकाशायर से कपड़ा मंगाने लगें। लंकाशायर से कपड़ा मंगाना खुद कोई पाप नहीं है। लेकिन दूसरे के पापों की शोध करने से पहले उन दोनों कोनों का, यानी नीति और धर्म का पालन करना पड़ेगा। इस शर्त पर मुझे सूत के तार के बदले या चर्खे के बदले कोई दूसरी चीज़ दे तो मैं उसका गुलाम बन जाऊंगा। पर यह चीज़ मेरी जिन्दगी में पूरी हो सकेगी, ऐसा मुझे लगता नहीं। बाक़ी तो बनानेवाला ईश्वर है, उसे जो करना हो करे।

आज मैं सेगांव चला गया हूँ, तो भी उसकी यही बात सुनाता हूँ। हमारे लोग बेकारी से भूखों मर रहे हैं, पर इसका कारण केवल अंग्रेजी राज्य नहीं है। यह भी इसका एक कारण है, अंग्रेज़ी राज्य से बेकारी फैली, और बेकारी से दारिद्र्य, पर इस दारिद्र्य को निमंत्रण देने में हमारा काफ़ी हिस्सा है। बेकारी हमारे देश में ईस्ट इंडिया कम्पनी की बदौलत आई, पर आज जो आलस्य देखने में आता है, इसमें तो हमारा ही दोष है। मैं सेगांव में देखता हूँ न कि लोगों को

उनके घर जा-जाकर पैसा दें तो भी वे आलस्य छोड़कर काम नहीं करते। लोगों को पैसा दिलाने के, उनकी जेब में थोड़ा-सा पैसा डालने के मार्ग तो बहुत हैं, पर वे नीति के अनुकूल होने चाहिएँ। शराब के धन्धे से भी पैसा मिलता है, पर वह किस काम का? खजूर के पेड़ों से यों ताड़ी बनती है, पर मैं उनसे गुड़ बना रहा हूँ। ऐसा गुड़ बना रहा हूँ कि जैसा आपने कभी नहीं खाया होगा। इसमें मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूँ। यह गुड़ अगर पैदा हो सका तो मैं कुछ हज़ार रुपये तो सेगाँव के लोगों की जेब में डालूँगा ही। अब उन पेड़ों से ताड़ी निकालें तब भी रुपया मिलेगा। पर इससे आज़ादी नहीं मिलेगी, और मिले भी तो भी मुझे नहीं चाहिए। मैं तो यह कहता हूँ कि मैं वहाँ गुड़ दाखिल करूँ और उसके बाद लोग चोरी से ताड़ी बनाने लगें तो मुझे उनके विरुद्ध कड़ा सत्याग्रह करना पड़ेगा। इसलिए ऐसा धन्धा मुझे कोई खादी के बदले बतावे तो उसे मैं स्वीकार नहीं करूँगा। किन्तु कोई भी नीति से चलनेवाली वस्तु खादी के बदले कोई मुझे बतावे तो उसे मैं उठा लेने के लिए तैयार हूँ। वह मुझे किसीने बताई नहीं।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि सूत के तार से ही स्वराज्य मिलेगा, पर इसके साथ नीति की ज़रूरत है। कुछ लोग ठगबाज़ी के लिए और खून करने के लिए भी खादी पहनते हैं। उनकी मनोदशा को मैं खादी की मनोदशा नहीं कहता। हमारा हृदय जब खादी से व्याप्त हो जायगा, तब हमारी आज़ादी को रोकनेवाली एक भी शक्ति ठहरने की नहीं। गाँवों में बसनेवालों को हमें यही चीज़ सिखानी है। इतना उन्होंने समझ लिया और कर लिया तो फिर धारा-सभायें सो जायँगी, कारण कि हम तो इसके पहले ही स्वराज प्राप्त कर चुके होंगे।

मैंने इसी समझ से एक साल के अन्दर स्वराज प्राप्त करने की बात अठारह साल पहले कही थी। वही बात आज भी कह रहा हूँ, और की थी इसके लिए मुझे ज़रा भी शर्म नहीं। मैंने जिन शर्तों को पूरा करने के लिए कहा था, उनमें से क्या एक भी पूरी हुई थी? आज भी उन्हें आप पूरा करें तो स्वराज हस्तामलकवत् है। आज हिन्दू-मुस्लिम-एकता कहाँ है? बम्बई में हाल में कैसी-कैसी शैतानियाँ हुई? आज वे करोड़ चर्खे कहाँ हैं? और कहाँ हैं वे नियमित रूप से रोज आधा घण्टा कातनेवाले? (यद्यपि आज तो मैं पाँच घण्टा कातने को कहता हूँ, क्योंकि कातनेवाले बहुत थोड़े रह गये हैं।) और हमने अस्पृश्यता कितनी दूर की है? त्रावणकोर की यह घोषणा तो समुद्र में एक बूँद के समान है। अस्पृश्यता जब बिल्कुल नष्ट हो जायगी, तब हिन्दू-मुसलमान गले मिलेंगे। अस्पृश्यता को जड़-मूल से नष्ट करने का अर्थ है, सबको अपना भाई बनाना—हरिजनों को ही नहीं, बल्कि मुसलमान ईसाई वग़ैरा को भी अस्पृश्य न मानना। और हमें जो शराब का सम्पूर्ण बहिष्कार करना था, वह किया है क्या? मैंने तो इसके अलावा सरकारी स्कूलों, अदालतों और धारासभाओं के बहिष्कार की भी बात की थी। मान लीजिए कि आज भी कोई धारासभा में नहीं जाना चाहता तो मैं किसी से जाने का आग्रह करता हूँ क्या? मैं तो बनिया ठहरा, जो बात लोगों को पसन्द नहीं आई, और जिसे वे हज़म नहीं कर सके, उसे छोड़ दिया और धर्म और नीति के अनुकूल उनके सामने दूसरी चीज़ रख दी।

## आर्थिक सूर्य-मण्डल

आज मैं सरल शब्दों में एक बड़ी ऊँची बात आप लोगों से कह

रहा हूँ—अगर आप चर्खे को अपनायेंगे तो आप देखेंगे कि सूत के तार से स्वराज मिलता है या नहीं? सारा हिन्दुस्तान तो सूर्य-मण्डल है। उसमें चरखा मध्य-बिन्दु है, और इसके आस-पास ग्राम-उद्योग रूपी ग्रह चक्कर लगा रहे हैं। नभो मण्डल में तो नवग्रह कहे जाते हैं, पर चरखे के आस-पास तो अनन्त ग्रह घूमते हैं। इस मध्यचक्र अर्थात सूर्य को मिटाने का अर्थ है, आस-पास के सभी उद्योगों को नष्ट कर देना। आज सूर्य सेवा करता है तो उसकी गरमी से टिके हुए दूसरे ग्रह सेवा करते हैं। मूल सूर्य का अस्तित्व स्थिर होगया तो फिर दूसरे सब ग्रह तो उसके आस-पास चक्कर लगायँगे ही।

इस प्रदर्शिनी में आप एक छोटा-सा सूर्य मण्डल देखेंगे। यह तो एक नमूना है, पर ऐसे नमूने से आप सारे हिन्दुस्तान को भर दें, सारा हिन्दुस्तान इस प्रकार के गाँवों का बन जाय, तो फिर धारा-सभा के कार्यक्रम की कोई ज़रूरत नहीं रहेगी, और न जेल जाने की ज़रूरत रहेगी। स्त्रियों को तो जेल जाना ही नहीं पड़ेगा, बल्कि पुरुषों को भी नहीं जाना पड़ेगा। हमें जेल में अपने पाप के कारण जाना पड़ता है; याने इससे कि हम सब रचनात्मक काम को हाथ में नहीं उठा लेते।

## ऊँचा उपाय

इसलिए यह एक ऊँचा उपाय है। इसके आगे हिंसक उपाय फीका पड़ जाता है। हमारी संख्या इतनी ज़्यादा है कि ३५ करोड़ सहज ही ७०,००० अंग्रेज़ों को पत्थर मारकर भी मार डाल सकते हैं। लेकिन फिर ३५ करोड़ के बारे में क्या कहा जायगा? इससे

आज़ादी मिलनी तो दूर, पर ईश्वर याने संसार हमारे ऊपर थूकेगा। और ब्रिटिश सरकार के पास इस सम्बन्ध में धर्म नहीं, नीति नहीं। वह तो हवाई जहाज़ों से बम फेंकेगी, और ज़हरीली गैस बरसायगी, यह भय तो हमेशा है ही। इस भय को मिटाने के लिए मैंने चर्खा खोजा, और आज सेगाँव में बैठा हूँ, पर रटना उसीकी है। आज भी मुझमें जेल जाने की शक्ति है, पर अब मैं ६८ वर्ष का होगया हूँ, अब तो आप लोगों में जो जवान हैं, वे जेल में जायँ। लेकिन आज तो मैं आपके आगे वह चीज़ रख रहा हूँ, जो मेरे अन्दर भरी हुई है। जेल तो जाने के लिए तैयार हूँ, फाँसी पर चढ़ने को भी तैयार हूँ—शायद जवाहरलाल की तरह हँसते-हँसते नहीं, रुआँसी आँखों से चढ़ूँ। पर आज इसके लिए सवाल कहाँ पैदा हुआ है। मैं तो कहता हूँ कि ३५ करोड़ आदमी अगर बुद्धिपूर्वक हिंसा का नाम छोड़ दें, मेरे बताये अनुसार चर्खे को अपना लें, तो धारा-सभा या जेल में जाने की, फाँसी पर चढ़ने की, अर्ज़ियाँ भेजने की या लार्ड लिनलिथगो के पास जाने की ज़रूरत रहेगी ही नहीं। उलटे लार्ड लिनलिथगो कांग्रेस में आकर कहेंगे कि तुम्हें जो चाहिए ले लो, और हमें यह बताओ कि हम यहाँ किस तरह रहें। वह कहेंगे—'हमसे ग़लती हुई। तुम्हारा वर्णन हमें आतंकवादी और हिंसावादी के के रूप में नहीं करना चाहिए था। अब तुम रखोगे तो रहेंगे, और जिस तरह रहने को तुम कहोगे, उस तरह रहेंगे। इसके बाद हमें विदेशियों को रोकने के क़ानून की ज़रूरत नहीं रहेगी। हम उन लोगों से कहेंगे, 'तुम दूध में शक्कर की तरह मिल जा सकते हो तो मिल जाओ, फिर हमें कोई अलग नहीं कर सकता।'

यह मेरा स्वप्न है। यह स्वप्न सेगाँव में रहकर मुझे इतना प्रत्यक्ष

दिखाई देता है कि मुझे लगा कि आप लोगों को यह सुना देना चाहिए। आगामी कॉंग्रेस में मिलूँगा या नहीं इसकी किसे ख़बर है? मैं तो यमराज के लिए किवाड़ खोलकर बैठा हूँ, कौन कह सकता है कि वह कब आकर उठा ले जाय? इसलिए मेरे मन में जो भरा हुआ था, उसे सुनाने का आज मैंने अवसर लिया। मेरे बताये अर्थ से भरे हुए चर्खे में हमारे देश के हरेक स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, पारसी-ईसाई सबकी स्वतन्त्रता समाई हुई है—जिस स्वतन्त्रता में सबका हक़ समान है—'सभी भूमि गोपाल की।'

ह० से० ९-१-३७

: २६ :

# सालाना शिक्षण-शाला

"पहले-पहल लखनऊ में जब इस तरह की प्रदर्शिनी का उद्घाटन हुआ, तब मैंने कहा था कि हमारी प्रदर्शिनियाँ शिक्षणशालायें होनी चाहिएं। तबसे हम बराबर इस आदर्श की ओर सफलता के साथ बढ़ते जा रहे हैं और जिस प्रदर्शिनी का मैं उद्घाटन कर रहा हूँ वह ऐसी ही एक सालाना शिक्षण-शाला है। यह वैसी प्रदर्शिनी नहीं, जैसी पहले हुआ करती थी; बल्कि उन सैकड़ों-हज़ारों की शिक्षा का स्थान है, जो एक-दो सप्ताह, जबतक कि यह रहेगी, इसको देखने के लिए आयेंगे। जो ग़रीब आदमी इसे देखने के लिए आते हैं, उन्हें इससे अगले साल के लिए कुछ मसाला मिलेगा। यह उन्हें ऐसे धन्धों की शिक्षा भी देती है, जिन्हें आठ घण्टे रोज़ काम करके वे अपना और अपने परिवार का पालन कर सकते हैं। कोई भी आदमी या औरत कितने ही अज्ञान या निरक्षर क्यों न हो, हरेक को इससे ऐसी शिक्षा मिलती है, जिसके द्वारा वे ईमानदारी के साथ अपनी कमाई कर सकते हैं।

"प्रदर्शिनी में आज सवेरे मैंने एक घण्टा बिताया है। आप यह एक क्षण के लिए भी न सोचें कि जो अखिल-भारत-चर्खा-संघ का अध्यक्ष रह चुका है और जो अखिल-भारत-ग्राम-उद्योग-संघ को रास्ता दिखा रहा है, उसके लिए इसमें कोई नई बात न होगी। आप ऐसा मानते हों, तो भी मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ जो ऐसा समझूँ। मैं तो

चाहूँगा कि इसमें मैं सिर्फ़ एक घण्टा ही न बिताऊँ, बल्कि प्रत्येक क्षण कुछ-न-कुछ नई बात सीखते हुए घण्टों लगा दूँ। लेकिन यह मैं मंजूर करता हूँ कि इससे कोई धन्धा चुनकर मैं अपनी रोज़ी नहीं कमा सकूँगा, क्योंकि फिलहाल तो मैं भीख माँगकर अपना गुज़र करता हूँ, जोकि शायद मेरे जैसों के लिए अनिवार्य है। मगर इस बात का मुझे इत्मीनान है कि किसी भी ऐसे स्त्री-पुरुष के लिए, जिसका शरीर काम देता हो, इस प्रदर्शिनी में प्रदर्शित अनेक धन्धों में से किसीको ग्रहण करके ईमानदारी के साथ अपना निर्वाह कर लेना असम्भव नहीं है।"

ह० से० १९-२-३८

: २७ :

## खादी का रहस्य

संयुक्तप्रांत और बिहार के मंत्री पद-त्याग करके आगये हैं। इसमें कोई बड़ा आश्चर्य नहीं हुआ। यह शासन-विधान एक खिलौना है, यह समझकर ही वे वहाँ पदों पर बैठे थे। जो बिहार और संयुक्त-प्रान्त में हुआ है वही कल बम्बई में और परसों मद्रास में हो सकता है। यह कैसा हुआ, इसका रहस्य मैं आपको समझाता हूँ। मैं मंत्री हूँ, इसलिए ३० क़ैदियों को या ३ को छोड़ने में मेरा इख़्तियार है। इसमें गवर्नर क्यों दस्तन्दाजी करे? मुझे मंत्री इसलिए बनाया है कि मेर पास इतने मत हैं। इसलिए क़ैदियों को छोड़ने का मुझे अधिकार है। समाजवादी भले ही मुझे गालियाँ दें, पर मुझे यह कहना चाहिए कि हम खादी का मंत्र नहीं जानते, इसीसे गवर्नर ऐसा कर सके। खादी का भेद नहीं समझा, यही इसका कारण है।

खादी अहिंसा की प्रतिष्ठा है, अहिंसा की मूर्त्ति है। समझदार खादीधारी की ज़बान से असत्य नहीं निकल सकता। ढोंगी खादी-धारी या पेट भरने के लिए खादी पहननेवाले की मैं बात नहीं करता। हमारे मन में अगर हिंसा है, चालबाज़ी है, तो हम खादी का रहस्य नहीं समझे। लोग यदि यह कहें कि खादी का अगर यह अर्थ है तो हम खादी नहीं पहनते, तो मैं क्या कहूँगा? मैं कहूँगा कि हिन्दुस्तान सत्य और अहिंसा द्वारा स्वराज लेना नहीं चाहता। मैं ज़ोर-ज़बर्दस्ती से सत्य और अहिंसा का पालन नहीं करा सकता और इस तरह

स्वराज भी प्राप्त नहीं हो सकता।

यहाँ हरिपुरा में कांग्रेस पर साढ़े सात लाख रुपया ख़र्च हुआ है। इसमें बहुत-सी चीज़ें मुझे अच्छी लगी हैं। पर इसमें खादी की आत्मा ओत-प्रोत नहीं है। सरदार और मुझमें कोई भेद नहीं है। हम एक दिल हैं, पर यह हो सकता है कि सरदार ने शायद खादी का रहस्य पूरी तरह से नहीं समझा। जहाँ खादी की साधना मौजूद हो, वहाँ साढ़े सात लाख रुपया ख़र्च कैसे हो सकता है? मैंने तो कहा था कि गाँवों में कांग्रेस की जाय, तो उसमें पाँच हज़ार का खर्च होना चाहिए। फैजपुर-कांग्रेस के समय देव से भी मैंने यही कहा था कि पाँच हज़ार से अधिक खर्च होगा तो तुम्हारा सारा आयोजन निरर्थक समझूँगा और यही हुआ भी। यह बात मेरे मन से गई नहीं। इतना अगर नहीं हो सकता, तो इसका यही अर्थ हुआ कि हम सच्चे स्वराज के सेवक नहीं बने, सच्चे देहाती नहीं बने। जहाँ देहाती भावना हो, वहाँ बिजली का क्या काम? वहाँ मोटर लारियाँ क्यों? फैजपुर में मुझे मोटर में बैठाकर लेगये थे। यहाँ भी मोटर में बिठा-कर लाये। मुझे पैदल नहीं चलने दिया। बैलगाड़ी में तो सुभाष बाबू को बिठाया, मुझे नहीं। मुझे यहाँ आने में देर लगती तो क्या बिगड़ जाता? अब तो सभी शाहजादे बन गये हैं, और कहते हैं कि मोटर न मिली तो हम दंगा करेंगे। यहाँ जो यह साढ़े सात लाख का ख़र्चा हुआ, इसमें खादी की भावना नहीं है। मैं तो खेत में कपास पैदा करूँ और उससे खादी बनाऊँ। यहाँ तो तमाम चीज़ें बाहर से मंगाई गई हैं। कामिनिया हेयर आयल और टुथ पाउडर भी आये हैं। देहाती का टूथ पाउडर तो कोयला और नमक है। पर यहाँ तो लोगों को दातुन नहीं, किन्तु टूथ-ब्रश चाहिए; नमक नहीं किन्तु पाउडर-

पेस्ट चाहिए। कंघी भी मशीन की चाहिए। मोटर चाहिए और बाक़ी का सारा सामान विदेशी चाहिए।

इस प्रदर्शिनी में भी पाँच दोष एक आदमी ने मुझे और मैंने शंकरलाल को बता दिये हैं। हम खादी का मंत्र ग्रहण नहीं कर सके, इसलिए समाजवादी अधीर होगये हैं, और कहते हैं कि गांधी का ज़माना गया, अब तो दूसरा ज़माना आया है। इसमें मुझे डर नहीं, दुःख नहीं। मेरी बात अगर आपको फेंक देने जैसी लगे तो फेंक दें, आप जो-कुछ भी करें वह हिन्दुस्तान की ख़ातिर करें, मेरी ख़ातिर न कीजिएगा। मैं तो मिट्टी का पुतला हूँ, इसकी तो ख़ाक हो जायगी, मेरी ख़ातिर आप खादी पहनते होंगे, तो मेरा शरीर जिस दिन जलाओ उसके दूसरे दिन खादी को भी जला देना। पर अगर आपने खादी का मंत्र ठीक तरह से समझा होगा, तो उसका रहस्य घोट कर पी लिया होगा, तो खादी मेरी मृत्यु के बाद टिकी रहेगी। खादी-रूपी प्रतिमा में आत्मा है या नहीं, यह तो आप जानें। पुतले को परमेश्वर न समझें; समझेंगे तो बुतपरस्त बन जायँगे। खादी का भेद समझे बिना खादीपरस्त बनेंगे, तो बुतपरस्त बनेंगे। खादी की कल्पना मैंने पिछले बीस बरसों से हिन्दुस्तान के सामने रख रक्खी है। इन बीस बरसों में मैंने यह एक ही बात हिन्दुस्तान में सबको सुनाई है। आज मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ भी मैं यही कहना चाहता हूँ। खादी अब पुरानी, जीर्णशीर्ण चीज़ नहीं रही, बल्कि नौजवान बन गई है, और खूबसूरत मालूम पड़ती है। आज यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है। ईश्वर मुझे कह रहा है कि इसमें कोई भूल नहीं है। इसमें स्वराज्य है, इसीमें स्वतन्त्रता है।

ह० से० २६-२-३८

: २८ :

# जुलाहों को कैसे बचायँ ?

इस कथन में कि करघा-व्यवसाय ने मिल प्रतियोगिता को पीछे हटा दिया है, केवल आंशिक सचाई है। आज तो करघे पर कपड़ा बुनने-वाले जुलाहे पहले से आधे भी नहीं रहे। एक वक्त था, जब जिस तरह राष्ट्र की ज़रूरत का सारा सूत चर्खे पर कतता था उसी तरह ज़रूरत का सारा कपड़ा करघे पर बुना जाता था। जब मिलें क़ायम हुईं तो चर्खे का ख़ात्मा होगया, क्योंकि उनसे कमाई थोड़ी होती थी, वे पूरे समय का धन्धा कभी नहीं रहे। लेकिन करघा टिका रहा, जिसकी एक वजह यह भी थी कि यह पूरे समय का धन्धा था और इसमें बुनाई का काम करनेवालों को अपनी कमाई बढ़ाने की गुंजाइश थी। मगर जब कता की मिलें खुलीं, तो जुलाहे अपने सूत की लच्छियों के लिए उनपर अव-लम्बित होगये। बल्कि इस तब्दीली पर वे खुश भी हुए, क्योंकि मिलों से उन्हें अधिक समान और मज़बूत सूत मिल सकता था। इस बात पर उन्होंने बहुत ध्यान नहीं दिया कि अगर किसी वजह से मिलें उन्हें सूत न दे सकीं तो वे पूरी तरह असहाय हो जायँगे। उधर गाँव के कत्तैयों के विपरीत, मिल-मालिक अपने सूत के मनमाने दाम रखने लगे। नतीजा यह हुआ कि बिना नये-नये नमूनों की खादी बुननेवाले जुलाहे क्रमशः मिल प्रतियोगिता के सामने टिक न सके और ख़त्म हो गये। इस प्रकार पिछले कुछ सालों से बढ़िया कपड़ा बुननेवालों पर भी बुनाई के मिलों का असर पड़ रहा है। सर्वसाधारण की रुचि

धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप से बदल रही है। मिलें अगर गाँव के जुलाहों द्वारा बने हुए कपड़ों की हूबहू नकल न कर सकें, तो वे, जैसा कि वे करती हैं, नये-नये नमूने तो निकाल ही सकती हैं और ढंग से विज्ञापन करके ग्राहकों को आकर्षित भी कर सकती हैं। यही कारण है कि रिवाज बदल जाने के कारण उड़ीसा के कई हज़ार जुलाहे आज हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं। यही आवाज़ उस दिन अहमदनगर से मेरे पास आई थी, जो कि बुनाई का एक मज़बूत केन्द्र है। उन सबको मैंने जो सलाह दी वह यही थी कि अगर ये जुलाहे परिवार अपने घरों में सिर्फ़ धुनाई और कताई जारी करलें तो वे मिल के सूत से बिलकुल स्वतन्त्र होकर 'अखिल-भारत-चर्खा-संघ' की अचूक सहायता प्राप्त कर सकते हैं। यह हो सकता है कि उस हालत में जुलाहों को पहले की जितनी कमाई न हो, क्योंकि उनका कुछ समय कताई में चला जायगा। लेकिन 'चर्खा-संघ' की संशोधित नीति के अन्दर, जिसका उद्देश्य कातनेवालों को एक आना फी घण्टा देना है और डेढ़ पैसा फी घण्टा उन्हें सचमुच दिया भी जा रहा है, जुलाहे अपनी कमाई की कमी को मुश्किल से ही महसूस करेंगे। और इसमें तो कोई शक ही नहीं कि भूखों मरने के बजाय कम कमाई होना भी हर हालत में ठीक ही है।

यह समझ लेने की बात है कि अपने परिवार में कताई और पिंजाई जारी करने में जुलाहों को कोई खास खर्च नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि चर्खा तो, उनके पास पहले से ही मौजूद है; अलबत्ता, उसमें कुछ सुधार की ज़रूरत अवश्य होगी। सिर्फ़ पींजन के लिए उन्हें कुछ पैसे खर्च करने पड़ेंगे।

मुझे मालूम हुआ है कि उड़ीसा-सरकार अपनी जेलों से मिल

का सूत बन्द कर जेलों के लिए खादी ही खरीदने का हुक्म दे रही है। कांग्रेस के रचनात्मक कार्य की इस पूर्ति के लिए उड़ीसा की सरकार बधाई की पात्र है। जिन कार्यकर्ताओं पर इस संगटन का भार हो वे इस नुसखे को याद रखें तो उन्हें पता लगेगा कि जुलाहों को कताई के लिए प्रेरित करने पर आवश्यक सूत की उत्पत्ति बहुत आसान हो जायगी। साथ ही, इस उपाय से शायद उन्हें यह भी पता लग जायगा कि अगर वे अन-सिखिये गाँववालों को सिखा-पढ़ाकर होशियार कत्तैये बनाने तक इन्तज़ार करेंगे तो तुलनात्मक रूप से खादी सस्ती पड़ सकती है। निःसन्देह, इसके लिए उन्हें सब गाँवों में कताई जारी करनी पड़ेगी, क्योंकि यही 'चर्खा-संघ' का लक्ष्य है। लेकिन जबतक यह उद्देश्य ठीक न हो, तबतक करघे पर कपड़ा बुननेवालों की हमें उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ह० से० २०-८-३८

: २६ :

## खादी को लोकप्रिय कैसे बनायें ?

आदरणीय खादी कार्यकर्त्ता ने मुझे हिन्दी में एक पत्र लिखा है, जिसका सारांश यह है :—

"मिलों के कपड़े के मुक़ाबिले में, क़ीमत के लिहाज़ से खादी महँगी पड़ती है। मिल के कपड़े से तो इसका मुक़ाबिला तभी हो सकता है, जबकि हाथ से ओटने, धुनने और कातने की मजूरी को उसमें से निकाल दिया जाय। इसलिए जो लोग खुद सूत कातते हैं, उनके लिए भी यह कोई मुनाफ़े की बात नहीं है। इसमें शक नहीं कि आपने खादी का नया अर्थशास्त्र निकाला है। लेकिन जबतक बहुसंख्यक लोग उसकी क़द्र न करें, खादी सब लोगों में प्रसार पा नहीं सकती। और तो और, हमारे कांग्रेसी मंत्री भी आपके नये अर्थ-शास्त्र को समझते या उसकी क़द्र करते हों, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। ऐसी हालत में आप खादी कार्यकर्त्ताओं, बल्कि आमतौर पर कांग्रेसजनों का भी मार्ग-प्रदर्शन नहीं करेंगे ? आपका विश्वास तो इतना जबरदस्त मालूम पड़ता है कि अगर हम, याने आपके साथी खादी-कार्यकर्त्ता आपसे कहें तो आप ईमानदारी और कुशलता के साथ किये जानेवाले आठ घण्टे के काम के लिए, कतनेवालों को आठ आना रोज़ भी फ़ौरन दे देंगे। लेकिन, सच बात तो यह है कि, हमारे अन्दर आपके जैसी श्रद्धा नहीं है।

निस्सन्देह खादी मिल के कपड़े से मुक़ाबिला नहीं कर सकती,

न ऐसा कभी सोचा ही गया था। जिस नियम से खादी के काम का नियंत्रण होता है, उसे अगर लोग न समझें तो खादी सर्वसाधारण में कभी भी स्थान नहीं पा सकती। उस हालत में तो लाज़िमी तौर पर यह मालदारों और उन्हीं लोगों के शौक़ की चीज़ रहेगी, जिन्हें कि इसकी धुन है। और अगर इसे खाली यही बनाना हो, तो अखिल-भारत-चर्खा-संघ जैसी महान संस्था के सारे प्रयत्नों को अगर बुरा न कहें, तो बिल्कुल व्यर्थ तो कहना ही पड़ेगा।

लेकिन खादी का एक बड़ा मिशन है। खादी उन लाखों आदमियों को सम्मानपूर्ण धन्धा देती है जो साल के लगभग चार महीने बेकार रहते हैं। इस काम से उन्हें पारिश्रमिक ही नहीं मिलता, बल्कि यों भी इसका मुआवज़ा उन्हें प्राप्त होता है। क्योंकि लाखों आदमी अगर लाज़िमी तौर से बेकार रहें तो आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक दृष्टि से वे ज़रूर मुर्दा बन जायेंगे। फिर चर्खे से लाखों ग़रीब औरतों की स्थिति भी अपने-आप सुधरती है। इसलिए मिल का कपड़ा चाहे मुफ्त ही क्यों न दिया जाय, तो भी उनकी सच्ची भलाई इसीमें है कि वे खादी के मुकाबिले में, जो कि उन्हींके परिश्रम का फल है, उसे लेने से इन्कार कर दें।

ज़िन्दगी रुपये से ज़्यादा क़ीमती है। यों तो यह बड़ा सस्ता नुस्खा है कि हमारे माँ-बाप आदि जो बड़े-बूढ़े वृद्धावस्था के कारण काम करने में असमर्थ हो जायँ और हमारी ही कमाई पर निर्भर हों, उन्हें हम मार डालें। साथ ही जिन बच्चों की अपनी भौतिक सुविधा के लिए हमें कोई ज़रूरत न हो और बदले में कुछ मिले बिना जिनकी हमें परवरिश करनी पड़े, उन्हें मार डालना भी सस्ता ही ही तरीक़ा है। लेकिन न तो हम अपने बड़े-बूढ़ों की हत्या करते हैं,

न अपने बच्चों को मार डालते हैं, बल्कि चाहे जितना ख़र्च पड़ने पर भी उनकी परवरिश करना ही मुनासिब समझते हैं। इसी तरह खादी को भी हमें और सब कपड़े को छोड़कर क़ायम रखना ही चाहिए। यह तो आदत की बात है, जिससे प्रेरित होकर हम खादी के बारे में क़ीमत का ख़याल करते हैं। इसके लिए यह ज़रूरी है कि हम खादी की सस्ताई-मंहगाई की अपनी धारणा को बदल दें। राष्ट्र के हित की दृष्टि से जब हम इस बात का अध्ययन करेंगे, तो हमें पता लगेगा कि खादी हरगिज़ मँहगी नहीं है। सक्रमण काल में घरेलू अर्थशास्त्र में रद्दोबदल का ख़तरा तो उठाना ही होगा। इस समय तो हमारे सामने एक बड़ी रुकावट है। लंकाशायर की, और आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि हिन्दुस्तानी मिलों को भी लाभ पहुँचाने के लिए रुई की उत्पत्ति का केन्द्रीकरण कर दिया गया है। रुई की क़ीमत का निर्णय विदेशों की क़ीमतों से होता है। जब रुई की उत्पत्ति का विभाजन खादी की आवश्यकताओं के मुताबिक़ होगा, तब रुई की क़ीमत में घटा-बढ़ी नहीं होगी और अब से कम तो हर हालत में रहेगी। राज्य के संरक्षण या स्वेच्छापूर्वक प्रयत्नों से जब लोग केवल खादी का ही व्यवहार करने की आदत डाल लेंगे, तब वे उसी तरह इसके सस्ते-मँहगे होने पर ध्यान देंगे, जिस तरह कि लाखों शाकाहारी मांसाहार और शाकाहार की क़ीमतों की कोई तुलना नहीं करते। वे तो मांसाहार के बजाय भूखों मर जाना भी पसन्द करते हैं, फिर वह चाहे मुफ़्त ही क्यों न बाँटा जाय।

लेकिन यह मैं मानता हूँ कि खादी में ऐसी जीवित श्रद्धा कांग्रेस-जनों में से बहुत-कम को है। मन्त्री ज़रूर कांग्रेसी हैं, लेकिन वे भी अपने आस-पास के वातावरण से ही प्रेरणा पाते हैं। अगर खादी में

उनका जीवित विश्वास हो, तो उसे लोकप्रिय बनाने के लिए ये बहुत-कुछ कर सकते हैं।

सन् १६२० में स्वराज्य का जो मूल कार्यक्रम बनाया गया था, उसका खद्दर आवश्यक अंग था। १६२१-२२ में हज़ारों कांग्रेस-जनों ने सैकड़ों सभाओं में यह बात दुहराई थी, कि हरेक गाँव में चर्खा चलने लगे, तभी लाखों आदमियों को स्वराज्य मिल सकता है। मरहूम अलीबन्धु मुख्तलिफ़ सभाओं में तकरीर करते हुए अक्सर यह कहा करते थे कि जबतक हरेक घर में चर्खा और हरेक गाँव में करघा नहीं होगा, तबतक आज़ादी हासिल नहीं हो सकती। मौ० मुहम्मद अली अपनी ध्यान खींच लेनेवाली आवाज़ में कहा करते थे कि, "हमारे चर्खे हमारी आज़ादी की जंग के हथियार हैं और उनसे निकलनेवाली सूत की आंटियाँ हमारा गोला-बारूद हैं।" वह ऐसे दृढ़ विश्वास के साथ यह बात कहते थे कि श्रेताओं के दिल में बैठ जाती थी। लेकिन शुरू के उन दिनों का वह विश्वास क़ायम नहीं रहा। श्री० जवाहरलाल नेहरू ने खादी को हमारी आज़ादी की वर्दी कहा है। लेकिन कितने उसे इस मानी में मानते हैं? कांग्रेस-जन अगर ऐसा विश्वास रख सकें तो खादी अपने-आप चल निकलेगी। क्योंकि स्वतन्त्रता किसी 'क़ीम' पर भी महँगी नहीं है। वह तो जीवन का सांस है। भला अपनी ज़िन्दगी के लिए कौन क्या ख़र्च करने को तैयार न होगा। सिविल ना-फ़र्मानी तो एक अस्थायी चीज़ है। कांग्रेसी-झण्डा उसका द्योतक नहीं है, बल्कि उसका निर्माण इस प्रकार किया गया है कि स्वतन्त्रता की मूल भूत बातों को वह व्यक्त करे। खादी उसकी पार्श्वभूमि है। उसके ऊपर चर्खा अंकित है और वही उसको क़ायम रखे हुए हैं। उसके रंगों से ज़ाहिर होता है कि स्वत-

न्त्रता हासिल करने के लिए साम्प्रदायिक एकता कितनी ज़रूरी है। ये शर्तें पूरी हो जायँ, तो शायद सविनय कानून-भंग की और उसके कारण उठाये जानेवाले कष्टों के सहने की कोई ज़रूरत ही न रहे। मेरे लिए तो खादी पहिनना आज़ादी का बाना धारण करना है।

खादी के इस अर्थ को तहे दिल से मान लिया जाय, तो मैं बतला सकता हूँ कि काँग्रेसी मंत्री ही नहीं, बल्कि दूसरे सूबों के भी मंत्री और खादी-कार्यकर्ता तथा कांग्रेस-जन क्या कर सकते हैं और उन्हें क्या करना चाहिए।

यह हो सकता है कि एक मंत्री इसीलिए रहे, कि वह खादी और ग्राम-उद्योगों की देखभाल करता रहे। इसलिए इस काम का एक महकमा होना चाहिए, जिसे दूसरे महकमों का सहयोग प्राप्त हो। इस प्रकार कृषि-विभाग रूई उत्पत्ति के अकेन्द्रीकरण की योजना बनायेगा, गाँवों के उपयोग के लिए रूई की पैदावार करने लायक़ जगह की पैमायश करेगा और इस बात का पता लगायगा कि उसके प्रान्त के लिए कितनी रूई की ज़रूरत होगी। यही नहीं बल्कि उपयुक्त केन्द्रों में वितरण के लिए वह रूई का स्टाक भी रक्खेगा। स्टोर का महकमा प्रान्त में उपलब्ध खादी को खरीदेगा और अपनी ज़रूरत का कपड़ा बनवायगा। टेकनिकल महकमा चर्खों तथा दस्तकारी के दूसरे औज़ारों की तरक्की के लिए कोशिश करेगा। ये सब महकमे अ०-भा०-चर्खा-संघ और ग्राम-उद्योग-संघ' को अपने विशेषज्ञ मान-कर सदा उनके सम्पर्क में रहेंगे।

माल-मंत्री मिल की प्रतियोगिता से खादी का संरक्षण करने के उपाय सोचेगा।

खादी कार्यकर्ता अथक उत्साह के साथ खादी-विज्ञान के नियमों

की छानबीन करेंगे और खादी को अधिक टिकाऊ व अधिक आकर्षक बनाना चाहेंगे और खादी के प्रासार के उपाय सोचने के लिए अपने को ज़िम्मेदार समझेंगे ? यह याद रखना चाहिए कि ईश्वर उन्हींकी मदद करता है, जो सदा जागरूक रहते हैं और अपने सारे गुणों का उपयोग अपने मिशन की अनन्य साधना के लिए करते हैं।

आमतौर पर सभी कांग्रेस-जन न सिर्फ़ समारोहों में बल्कि आदतन खादी पहनकर खुद कमाई करके और जब कभी उनसे कहा जाय तभी खादी-कार्यकर्ताओं की मदद करके अपने पड़ोसियों में खादी के सन्देश का प्रासार करें।

ह० से० १०-१२-३८

: ३० :

# 'सच्चा' स्वदेशी

अगर मैं स्वदेशी के पहले 'सच्चा' विशेषण का प्रयोग करूँ, तो आलोचक मुझसे पूछ सकता है कि क्या झूठा स्वदेशी भी होता है ? दुर्भाग्यवश मुझे यह जवाब देना पड़ेगा कि 'हाँ, होता है।' चूँकि स्वदेशी के सम्बन्ध में मेरा मत प्रामाणिक माना जाता है, इसलिए जबसे खादी चली, पत्र-प्रेषकों ने अगणित पहेलियाँ मेरे सामने लाकर रखी हैं। और मुझे स्वदेशी के दोनों प्रकारों का परिचय देने के लिए मजबूर होना पड़ा है।

अगर विदेशी पूँजी को स्वदेशी के साथ मिला दिया जाय, या विदेशी हुनर को स्वदेशी के साथ, तो क्या वह चीज़ स्वदेशी रहेगी ? और भी कुछ प्रश्न हैं। लेकिन उसदिन एक मन्त्री को मैंने जो व्याख्या बताई थी उसका उद्धृत कर देना मैं बेहतर समझता हूँ। मैंने यह व्याख्या की भी—'कोई भी वस्तु स्वदेशी हो सकती है, अगर वह करोड़ों देशवासियों का हित-साधन करती हो, हालांकि पूँजी और कला-कुशलता भी विदेशी हो, मगर अच्छे योग्य भारतीयों के 'कट्रोल' में हो।' इस प्रकार चर्खा-संघ की व्याख्या के अनुसार खादी सच्ची स्वदेशी है, हालाँकि पूँजी भले ही सारी विदेशी हो, और भारतीय बोर्ड द्वारा नियुक्त खादी-निष्णात भी पाश्चात्य हों। इसके विपरीत, बाटा के रबर के या दूसरे जूते विदेशी माने जायँगे, यद्यपि कारीगर भले ही उसमें सब हिन्दुस्तानी हों और पूँजी भी हिन्दुस्तान से लेकर

लगाई गई हो। वे जूते दोहरे विदेशी होंगे, क्योंकि, एक तो विदेशियों के हाथ में 'कंट्रोल' होगा, और वे चाहे कितने ही सस्ते हों, गाँव के चर्मकारों और मोचियों को तो हमेशा के लिए बेकार कर देंगे। बरार के मोची तो इस इस घातक प्रतिस्पर्धा को महसूस करने भी लग गये हैं। बाटा का जूता भले ही यूरप के लिए बचत की चीज़ हो, पर हमारे गाँव के मोची और चमकार के लिए तो उसका अर्थ मृत्यु ही होगा। मैंने यह दो स्पष्ट उदाहरण दिये हैं, जो आंशिक रूप से दोनों ही कल्पित हैं। क्योंकि चर्खा-संघ में पूंजी स्वदेशी ही है और कारीगर भी सब देशी हैं। मगर मैं यह पसन्द करूँगा कि पाश्चात्य एंजीनियरी की कला-कुशलता ऐसा ग्रामोपयोगी चर्खा बनाने के लिए प्राप्त की जाय, जो तमाम मौजूदा चर्खों से बाज़ी मार सके, हालाँकि मेरे दिल में यह गहरा विश्वास है कि हमारे देश के कारीगरों ने अपने हुनर-कौशल से जो सुधार किये हैं, वे किसी भी तरह नगण्य समझने लायक़ नहीं हैं। पर यह तो मैं विषयान्तर कर गया। मैं ज़रूर यह आशा करता हूँ कि मन्त्री या दूसरे लोग, जो जनता को मार्ग दिखाते या उसकी सेवा करते हैं, सच्चे और झूठे स्वदेशी में क्या अन्तर है उसे पहचानने की आदत डालेंगे।

ह० से० २५-२-३९

: ३१ :

## स्वदेशी व्रत

स्वदेशी-व्रत इस युग का महाव्रत है। जो वस्तु आत्मा का धर्म है, लेकिन अज्ञान या दूसरे कारण से आत्मा को जिसका भान नहीं रहा उसके पालन के लिए व्रत लेने की ज़रूरत पड़ती है। जो स्वभावतः निरामिषाहारी है उसे आमिषाहार न करने का व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभन की चोज़ नहीं होती, उल्टे आमिष देखकर उसे उल्टी आती है।

स्वदेशी आत्मा का धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की ज़रूरत पड़ती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अन्तिम अर्थ सारे स्थूल सम्बन्धों से आत्यन्तिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है। क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होता है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है। जीव मात्र के साथ ऐक्य साधते हुए, स्वदेशी धर्म को जानने और पालने वाला देह का भी त्याग करता है।

यह अर्थ सत्य हो तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि अपने पास-पड़ोस की सेवा में ओत-प्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। ऐसी सेवा करते दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है, ऐसा भासित होना सम्भव है, पर वह आभास-मात्र होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा हो ही जाती है। जैसा पिंड में वैसा ब्राह्माण्ड में। इसके विरुद्ध दूर की सेवा करने का

मोह रखने में वह तो होती नहीं और पड़ोसी की सेवा छूट जाती है। यों न इधर के रहे न उधर के ही, दोनों बिगड़ते हैं। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुम्बीजन और ग्रामवासियों को मैंने छोड़ दिया तो मुझपर उनका जो आधार था वह चला गया। दूरवालों की सेवा करने जाने में उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहाँ का वातावरण बिगाड़ा और अपना तो बिगाड़ कर चला ही था। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसीसे 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' वाक्य की उत्पत्ति हुई है। इसका अर्थ यों किया जाय तो ठीक होगा कि "स्वदेशी पालते हुए मौत भी हो तो अच्छी, परदेशी तो भयानक ही है।" स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशी न समझने में ही गड़बड़ होती है। कुटुम्ब पर मोह रख कर मैं उसे पोसूँ, उसके लिए धन चुराऊँ, यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्म की खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल रहता है। स्वधर्म के पालन से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुँच ही नहीं सकती, न पहुँचनी चाहिए। पहुँचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं, बल्कि वह स्वाभिमान है, इससे वह त्याज्य है।

स्वदेशी का पालन करते हुए कुटुम्ब का बलिदान भी देना पड़ता है। पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुम्ब की सेवा होनी चाहिए। यह सम्भव है, कि जैसे अपने को खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं, वैसे कुटुम्ब को खोकर कुटुम्ब की रक्षा कर सकते हैं। मानिए, मेरे गाँव में महामारी हो गई। इस बीमारी के चंगुल में फँसे हुओं की सेवा में मैं अपने को, पत्नी को, पुत्रों को, पुत्रियों को लगाऊँ और सब

इस रोग में फँसकर मौत के मुँह में चले जायँ, तो मैंने कुटुम्ब का संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की है। स्वदेशी में स्वार्थ नहीं है, अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ याने परमार्थ; शुद्ध स्वदेशी याने परमार्थ की पराकाष्ठा।

इस विचार-धारा के अनुसार मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझ में आने योग्य, सभीको जिसके पालन की भारी आवश्यकता हो ऐसा इस युग में, इस देश में कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जिसके अनायास पालन से भी हिन्दुस्तान के करोड़ों की रक्षा हो सकती है, ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है ? इसके जवाब में चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्म के पालन से परदेशी मिलवालों को नुक़सान होता है। चोर को चुराई हुई चीज़ वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय, तो उसमें उसे नुक़सान नहीं है, फ़ायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे कलवार को या अफीम की दूकानदार को नुक़सान नहीं, लाभ है। वे वाजबी तरह से जो अर्थ साधते हों उनके इस अनर्थ का नाश होने में उनको और जगत को फ़ायदा ही है।

पर जो चर्खे द्वारा जैसे-तैसे सूत कातकर, खादी पहन-पहना कर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं, वे महामोह में डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधारी देखे गये हैं, जो और सब सामान परदेशी रखते हैं। वे स्वदेशी का पालन करनेवाले नहीं कहे जा सकते। वे तो प्रवाह में बहनेवाले हैं। स्वदेशी व्रत का पालन करने वाला बराबर अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहाँ-

जहाँ पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहाँ-जहाँ उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा, वहाँ वह दूसरा छोड़कर वह लेगा। फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले मंहगी और कम-दर्जे की हो। व्रतधारी इसे सुधारने और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर स्वदेशी ख़राब है इससे परदेशी काम में नहीं लाने लग जायगा!

किन्तु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कूएँ में डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महाकष्ट से ही बन सकती है वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालनेवाला कभी परदेश का द्वेष करेगा ही नहीं। अतः पूर्ण स्वदेशी में किसी का द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेम में से, अहिंसा में से पैदा हुआ सुन्दर धर्म है।

मंगलप्रभात से ]

# सस्ता साहित्य मण्डल

## 'सर्वोदय साहित्य माला' की पुस्तकें

| पुस्तक | मूल्य |
|---|---|
| १—दिव्य-जीवन | ।=) |
| २—जीवन-साहित्य | १।) |
| ३—तामिल वेद | ॥।) |
| ४—व्यसन और व्यभिचार | ॥।=) |
| ५—(अप्राप्य) | |
| ६—भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग) | ३) |
| ७—अनोखा (विक्टर ह्यूगो) | १।=) |
| ८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान | ॥।=) |
| ९—यूरोप का इतिहास | २) |
| १०—समाज-विज्ञान | १॥) |
| ११—खद्दर का सम्पत्तिशास्त्र | ॥।≡) |
| १२—१३—(अप्राप्य) | |
| १४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह | १।) |
| १५—(अप्राप्य) | |
| १६—अनीति की राह पर | ॥=) |
| १७—सीता की अग्नि-परीक्षा | ।-) |
| १८—कन्याशिक्षा | ।) |
| १९—कर्मयोग | ।=) |
| २०—कलवार की करतूत | =) |
| २१—व्यावहारिक सभ्यता | ॥। |
| २२—अंधेरे में उजाला | ॥) |
| २३—२४—(अप्राप्य) | |
| २५—स्त्री और पुरुष | ॥) |
| २६—घरों की सफ़ाई | ।=) |
| २७—क्या करें ? | १॥) |
| २८—(अप्राप्य) | |
| २९—आत्मोपदेश | ।) |
| ३०—(अप्राप्य) | |
| ३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे— | ।) |
| ३२—(अप्राप्य) | |
| ३३—श्रीरामचरित्र | १।) |
| ३४—आश्रम-हरिणी | ।) |
| ३५—(अप्राप्य) | |
| ३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त | ॥) |
| ३७—महान् मातृत्व की ओर | ॥।=) |
| ३८—शिवाजी की योग्यता | ।=) |
| ३९—तरंगित हृदय | ॥) |
| ४०—नरमेध | १॥) |
| ४१—दुखी दुनिया | ।=) |
| ४२—जिन्दा लाश | ॥) |
| ४३—आत्म-कथा (गांधीजी) | १॥) |
| ४४—(अप्राप्य) | |

४५—जीवन-विकास १।), १॥)
४६—(अप्राप्य)
४७—फाँसी ! ।=)
४८—अनासक्तियोग—गीताबोध (दे० नवजीवनमाला)
४९—(अप्राप्य)
५०—मराठों का उत्थान-पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १)
५२—स्वगत ।=)
५३—(अप्राप्य)
५४—स्त्री-समस्या १॥)
५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबिला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—(अप्राप्य)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी ॥)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥)
६२—हमारा कलंक ॥=)
६३—बुद्‌बुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥)
६६—(अप्राप्य)
६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता २॥)
६८—स्वतंत्रता की ओर— १॥)
६९—आगे बढ़ो ! ॥)
७०—बुद्ध-वाणी ॥=)
७१—कांग्रेस का इतिहास २॥)
७२—हमारे राष्ट्रपति १)
७३—मेरी कहानी (ज० नेहरू) २॥)
७४—विश्व-इतिहास की झलक (जवाहरलाल नेहरू) ८)
७५—(दे० नवजीवन माला)
७६—नया शासन विधान—१ ।॥)
७७—(१) गाँवों की कहानी ॥)
७८—(२-९) महाभारत के पात्र १)
७९—सुधार और संगठन १)
८०—(३) संतवाणी ॥)
८१—विनाश या इलाज ।॥)
८२—(४) अंग्रेजी राज्य में हमारी आर्थिक दशा ॥)
८३—(५) लोक-जीवन ॥)
८४—गीता मंथन १॥)
८५—(६) राजनीति प्रवेशिका ॥)
८६—(७) अधिकार और कर्तव्य ॥)
८७—गांधीवाद : समाजवाद ।॥)
८८—स्वदेशी और ग्रामोद्योग ॥)

# आगे होनेवाले प्रकाशन

१. **जीवन शोधन**—किशोरलाल मशरूवाला
२. **समाजवाद : पूँजीवाद**—
३. **फेसिस्टवाद**
४. **नया शासन विधान**—(फेडरेशन)
५. **हमारे गांव**—( चौ० मुख्तारसिंह )
६. **हमारी आज़ादी की लड़ाई** (२ भाग)—(हरिभाऊ उपाध्याय)
७. **सरल विज्ञान**—१ (चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय)
८. **सुगम चिकित्सा**—(चतुरसेन वैद्य)
९. **गांधी साहित्य माला**—(इसमें गांधीजी के चुने हुए लेखों का संग्रह होगा—इस माला में २० पुस्तकें निकलेंगी। प्रत्येक का दाम ।।) होगा। पृष्ठ संख्या २००-२५०)
१०. **टाल्स्टाय ग्रन्थावलि**—(टाल्स्टाय के चुने हुए निबन्धों, लेखों और कहानियों का संग्रह। यह १५ भागों में होगा। प्रत्येक का मूल्य ।।), पृष्ठ संख्या २००–२५०)
११. **बाल साहित्य माला**—(बालोपयोगी पुस्तकें)
१२. **लोक साहित्य माला**—(इसमें भिन्न-भिन्न विषयों पर २०० पुस्तकें निकलेंगी। मूल्य प्रत्येक का ।।) होगा और पृष्ठ संख्या २००–२५० होगी। इसकी ५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।)
१३. **नवराष्ट्र माला**—इसमें संसार के प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र-निर्माताओं और राष्ट्रों का परिचय है। इस माला की पुस्तकें २००–२५० पृष्ठों की और सचित्र होंगी। मूल्य ।।।)
१४. **नवजीवनमाला**—छोटी-छोटी नवजीवनदायी पुस्तकें।

## गांधी साहित्य-माला

'मण्डल' का यह सौभाग्य रहा है कि महात्माजी की पुस्तकों को हिन्दी में प्रकाशित करने की स्वीकृति और सुविधा महात्माजी की ओर से उसे मिली है। और हिन्दी में गांधीजी की पुस्तके मण्डल ने ही ज्यादा संख्या में निकाली भी हैं। 'मण्डल' का सर्वप्रथम प्रकाशन महात्माजी का लिखा 'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह', 'अनीति की राह पर', और 'हमारा कलंक' आदि हमने प्रकाशित किये। लेकिन फिर भी अबतक हम एक बात नहीं कर पाये। बहुत दिनो से हमारी इच्छा थी कि महात्माजी के सारे लेखों और भाषणो का विषय-वार सुसंपादित सस्करण निकाला जाय। अब पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इस वर्ष हम इस काम को प्रधानरूप से हाथ में ले रहे है और महात्माजी के चुने हुए खास-खास लेखों को १५–२० भागों में उपरोक्त माला के रूप में निकाल रहे हैं। **यह 'स्वदेशी और ग्रामोद्योग' इस माला की पहली पुस्तक है। इस माला के** प्रत्येक भाग की पृष्ठ संख्या २०० और दाम ॥) होगा।

## नवजीवन माला

श्री महावीरप्रसाद पोद्दार सन् १९३०–३१ में कलकत्ता में 'शुद्ध खादी भण्डार' संचालन का काम करते थे। वहाँ से उन्होंने 'नवजीवन माला' नाम की एक पुस्तकमाला निकाली थी। उसका उद्येश्य, करोड़ों हिन्दी भाषी ग़रीब लोगों में महात्मा गांधी और संसार के दूसरे सत्पुरुषों के नवजीवनदायी विचारों को सस्ते-से-सस्ते मूल्य में फैलाना और उनको भारत की आज़ादी के महायज्ञ के लिए तैयार करना था। इस माला में कलकत्ते से लगभग ३० छोटी-छोटी पुस्तकें निकली थीं। उसका बड़ा

प्रचार हुआ और महात्मा गांधी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्री जमनालाल बजाज आदि ने इन पुस्तकों की बहुत प्रशंसा की। बाद में श्री पोद्दारजी दूसरे कामों में लग गये और माला का प्रकाशन बन्द होगया। अब श्री पोद्दारजी ने इस माला का प्रकाशन 'सस्ता साहित्य मण्डल' के सिपुर्द कर दिया है और यह माला, पुरानी पुस्तकों के क्रम में कुछ हेर-फेर के साथ, मण्डल से नियमित रूप में प्रकाशित होती रहेगी। इसकी पुरानी पुस्तकें जो प्राप्य होंगी वे भी मण्डल से मिल सकेंगी।

'मण्डल' से इस माला में निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित होगई हैं। उनका क्रम तथा परिचय इस प्रकार है :—

१. गीताबोध (गांधीजी) -)॥
२. मंगलप्रभात ,, -)॥
३. अनासक्तियोग ( ।धीजी) =) : श्लोकसहित ≡) सजिल्द ।)
४. सर्वोदय (गांधीजी) -)
५. नवयुवकों से दो बातें (क्रोपाटकिन) -)
६. हिन्द स्वराज्य (गांधीजी) ≡)
७. छूतछात की माया (आनन्द कौसल्यायन) -)
८. किसानों का सवाल (डा० अहमद) =)
९. ग्राम सेवा (गांधीजी) -)
१०. खादी-गादी की लड़ाई (विनोबा) =)